* ॐ *

# वाक्य वृत्तिः।



वेदान्त केसरी कार्यालय,
बेलनगंज—आगरा।

मूल्य ।॥)

❀ ॐ ❀

श्रीमत् शंकराचार्य प्रणीत

# वाक्य वृत्तिः ।

भाषा विवेचन सहित ।

लेखक—

परमहंस स्वामी योगानन्द

( आलू वाले बाबा )

वेदान्त केसरी कार्यालय,

बेलनगंज—आगरा ।



१००० ]    सम्वत् १९८९    [ मूल्य ।।।)

वेदान्त केसरी कार्यालय के लिये मुद्रक और प्रकाशक
पण्डित रामस्वरूप,
केसरी प्रेस, बेलनगंज-आगरा।

# प्रस्तावना ।

श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटे छोटे पुस्तकों में इस वाक्य वृत्ति की भी गणना होती है। थोड़े शब्दों में तत्त्व बोध के निमित्त मुमुक्षुओं को यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है; इसलिये भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाले मुमुक्षुओं के हितार्थ गुरुवर्य परमहंस श्री स्वामी योगानंदजी ने इसका रहस्य समझने में सुगमता होने के लिये भाषा में दृष्टान्त सहित विवेचन करके उसके गूढ़ आशयों को अत्यन्त विस्पष्ट कर दिया है।

साधन सम्पन्न उत्तम अधिकारी पुरुष ने सद्गुरु से प्रश्न किया है। जिसका मार्मिक उत्तर ही इसका विषय है इसलिये उत्तम अधिकारी मुमुक्षु ही इस ग्रंथ का अधिकारी है, तो भी प्रस्तुत पुस्तक में अत्यन्त सरल विवेचन होने से मध्यम अधिकारी पुरुष भी इसके पठन, मनन और निदिध्यासन से अपना कल्याण कर सकता है।

इस पुस्तक के प्रकट करने में पटने वाले श्री० मुन्नालाल बिहारीलाल की फर्म के तरफ से आर्थिक सहायता मिली है जिसके लिये हम आपके आभारी हैं।

ब्रह्मचारी विष्णु

* ॐ *

# वाक्य वृत्तिः ।

सर्ग स्थिति प्रलय हेतुमचिंत्य शक्तिं
विश्वेश्वरं विदित विश्वमनंत मूर्त्तिम् ।
निर्मुक्त बंधनमपार सुखांबुराशिं
श्रीवल्लभं विमल बोधघनं नमामि ॥१॥

अर्थ—जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है, जिसकी शक्ति अचिन्त्य है, जो विश्व का ईश्वर है, जो विश्व का साक्षी है, जिसके अनंत शरीर हैं, जो बन्धन रहित अपार सुख का समुद्र है, जो माया और माया के कार्य रूप मल से रहित है; ज्ञान ही जिसका वास्तविक स्वरूप है ऐसे श्रीलक्ष्मी के पति को मैं नमस्कार करता हूं।

# विवेचन।

जगत् उत्पन्न हो होकर लय भाव को प्राप्त होता है इसे मनुष्य सम्पूर्ण जान नहीं सकता; वर्तमान जगत् की स्थिति को ही जानता है। परन्तु शास्त्र के ही कथन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और लय जाना जाता है, मनुष्यादि के जन्म स्थिति और मृत्यु व्यक्ति रूप से ही देखें जाते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों की यह तीनों अवस्थाएं होती देखकर संपूर्ण व्यक्त्रिओं का एक भाव समष्टि में अनुमान किया जा सकता है। व्यक्ति तुच्छ है और समष्टि महान् है, इसीसे व्यक्ति की उत्पत्ति स्थिति और लय तुच्छ होगा और समष्टि का महान् होगा। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय होता है। उनका जो आद्य कारण है, वह परमात्म स्वरूप है। नमस्कार करने के लिये जिसका वह हेतु है उसको दिखलाया है।

एक अद्वितीय परब्रह्म है ऐसा श्रुतिका कथन है तब उस तत्त्व से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय किस प्रकार हो ? उसे यहां समझाया है कि जगत् की उत्पत्ति आदि से परब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता; वह हमेशा अपने स्वरूप में अद्वितीय ही रहता है परन्तु उसकी एक माया नाम की शक्ति है उस शक्ति के ही किये हुए जगत् के उत्पत्ति स्थिति और लय हैं और उनके भीतर भी अनेक भेद उस शक्ति से ही होते हैं। शक्ति शक्तिवान् से पृथक् नहीं होती क्योंकि शक्ति में शक्तिवान् का अस्तित्व काम देता है। इसीसे शक्ति अनेक प्रकार के भेद कर

दें तब भी तत्त्व जो शक्तिवान्–शक्ति का अधिपति है उसमें भेद नहीं होता।

जगत् की उत्पत्ति का हेतु परमात्मा की शक्ति है वह अचिंतनीय है। जिसका चिंतवन न होसके उसे अचिंतनीय कहते हैं। उस शक्ति का दूसरा नाम माया है, यह चिंतन करने के योग्य नहीं है। 'वह इस प्रकार की है' ऐसा उसे कह नहीं सकते। सच्ची कह नहीं सकते और झूठी भी नहीं कह सकते। सच्ची इस कारण नहीं है कि उसका परब्रह्म से भिन्न अस्तित्व नहीं है, परब्रह्म के स्वरूप में उसकी प्रतीति ही नहीं होती। झूठी इस कारण से नहीं है कि संपूर्ण संसार, जन्म मरण, पाप पुण्यों के फलादिक का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। सच्ची झूठी दोनों मिली हुई हो ऐसी भी नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों विरुद्ध भावों का एक काल में मिलना अशक्य है। वह आश्रय से भिन्न नहीं है उसका आश्रय परब्रह्म है। वह आश्रय से मिली हुई भी नहीं है क्योंकि आधेय है। ऐसी महान् आश्चर्य वाली और अनेक प्रकार के ऐश्वर्य को दिखलाने वाली माया किस प्रकार की है यह कहा नहीं जाता। परब्रह्म उस माया का अधिपति होने से संपूर्ण विश्व का साक्षी है; संपूर्ण विश्व का प्रकाशक है।

माया में अनेक प्रकार के चमत्कार हैं तो भी ब्रह्म के आश्रय रहित 'न है न कुछ कर सकती है' माया से विश्व है और विश्व की अनेक मूर्तियों का भिन्न भिन्न व्यवहार है तो भी सब में वस्तु स्वरूप परब्रह्म होने से मूर्तियों के रूप में भी परब्रह्म है। सब

प्राणी माया और माया के कार्य अविद्या से मोह को प्राप्त हुए हैं इसीसे सब कोई बन्धन में हैं परन्तु प्रत्येक प्राणी में रहा हुआ तत्त्वस्वरूप परब्रह्म बन्धन से रहित है। माया में दबे हुए को बन्धन होता है, जो माया का अधिपति है उसमें मायाकृत बन्धन का अभाव है। जैसे तमाशगीर का तमाशा उसे बन्धन करने वाला नहीं होता, इसी प्रकार ईश्वर की माया ईश्वर को बन्धन का हेतु नहीं हाती और वह सुख का समुद्र है। जैसे अथाह जल से भरा हुआ समुद्र होता है इसी प्रकार जिसमें सुख ही सुख भरा हुआ है वह सुख का समुद्र कहा जाता है, परब्रह्म सुख का समुद्र है उस महेश्वर से ही ब्रह्मांड भर के प्राणी लौकिक सुख में भी युक्त होते हैं। माया की शक्ति जो आवरण और विक्षेप रूप है इन दोनों से मल दोष की वृद्धि होती है। परब्रह्म में माया की दोनों प्रकार की शक्ति और उनसे होने वाले मल दोष और विक्षेप दोष नहीं हैं। परब्रह्म सत् स्वरूप है उसीमें भ्रांति रूप माया भ्रांति से प्रतीति होती है इसीसे उसके आश्रय सत् परब्रह्म में भ्रांतिकृत दोष हो नहीं सकता। जैसे परब्रह्म सत् और आनंद स्वरूप है ऐसे ही चिद् स्वरूप भी है वही ज्ञान स्वरूप कहा ज़ाता है। ज्ञान ही जिसमें ठूँस ठूंस कर भरा हो उसे ज्ञानघन कहते हैं इस प्रकार परब्रह्म ज्ञानघन है। जैसे घट मृत्तिका स्वरूप है वैसे परब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। वह ज्ञान भी प्रातिभासिक और व्यवहारिक नहीं है वे दोनों प्रकार के ज्ञान माया युक्त हैं। इससे मल वाले हैं और उत्पत्ति नाश वाले भी हैं परन्तु परब्रह्म का ज्ञानस्वरूप भेद रहित अखंड और उत्पत्ति नाश रहित होने से अत्यन्त निर्मल है।

बोध स्वरूप परब्रह्म में मल नहीं है और उसका विशेष बोध यथार्थ बोध मल को तोड़ने वाला होने से निर्मल है श्रीलक्ष्मी-माया जिसके आधार में सब विश्व की रचना करती है ऐसे उस लक्ष्मीपति को मैं प्रणाम करता हूं।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने ग्रन्थारंभ में मंगलाचरण रूप परब्रह्म की स्तुति की है। यहां माया के पति को प्रणाम करने से माया की पृथक्ता जहां नहीं रहती ऐसे उसके पति परब्रह्म को प्रणाम किया है, दोनों को एक करके प्रणाम किया है। माया का कार्य रूप जीव भाव और माया का पति रूप ईश्वर भाव दोनों की तत्त्व से एकता करने से जीव ब्रह्म की एकता इस ग्रन्थ का विषय सूचित किया है। माया और मायापति को एक करने की योग्यता वाला अद्वैत तत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा वाला मुमुक्षु पुरुष इस ग्रंथ का अधिकारी है। परब्रह्म आनंद स्वरूप है जीव जब तत्त्व से परब्रह्म की एकता करता है तब उसे भी आनंद प्राप्त होता है इसी से परमानंद की प्राप्ति रूप फल है। ग्रंथ परमानंद को प्राप्त कराने वाला और मुमुक्षु प्राप्त करने वाला होने से प्राप्य प्रापक भाव सम्बन्ध है।

यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
र्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च।
इत्थं विजानामि सदात्म रूपं
तस्यांघ्रि पद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यं ॥२॥

अर्थ—मैं स्वयम् विष्णु हूँ और मुझमें ही सम्पूर्ण विश्व कल्पित है, इस प्रकार जिसकी कृपा से, मैं आत्मस्वरूप का नित्य प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ उस सद्गुरु के चरणारविन्द को सर्वदा मैं प्रणाम करता हूँ।

## विवेचन।

परब्रह्म की स्तुति के पश्चात् ग्रन्थकार सद्गुरु को प्रणाम करते हैं। सद्गुरु की कृपा से जो अमरत्व प्राप्त हुआ है उस फ़ल को दिखलाते हुए प्रणाम करते हैं। परब्रह्म की स्तुति में तो, परब्रह्म माया और जगत् की रचना को दिखलाकर सबका आधार तत्त्व यही है ऐसा कथन किया था। परब्रह्म स्वरूप से ज्ञान दाता सद्गुरु की विशेषता है उस विशेषता सहित अब कथन करते हैं। सच्चिदानन्द परब्रह्म है सद्गुरु भी स्वस्वरूप को प्राप्त होने से सच्चिदानन्द है। परब्रह्म सामान्य प्रकाश स्वरूप है और माया का सहारा लेकर—माया का अधिपति होकर सृष्टि का नियंता है परन्तु समष्टि स्वरूप है। जीव व्यक्ति है अविद्या के अन्धकार में पड़ा हुआ है, उसे उपदेश द्वारा अविद्या में से हटा कर स्वस्वरूप में टिकाने के कार्य में व्यक्ति की आवश्यकता है। व्यक्त होकर भी जो अव्यक्त परब्रह्म स्वरूप के बोध में विराजमान है ऐसा कोई सद्गुरु ही उपदेश देकर कृतार्थ कर सकता है। परब्रह्म अव्यक्त स्वरूप है वह व्यक्त जीव को सीधा उपदेश दे नहीं सकता इसीसे परब्रह्म से सद्गुरु की विशेषता है। परब्रह्म परब्रह्म को प्राप्त करा नहीं सकता सद्गुरु रूप होकर ही परब्रह्म को प्राप्त करा सकता है।

सब आर्य शास्त्र में ग्रन्थारम्भ में ही जिस विषय का ग्रन्थ होता है उस विषय का संपूर्ण फल दिखला दिया जाता है पश्चात् उसका विस्तार के साथ कथन करके समझाया जाता है। इस दूसरे श्लोक में ग्रंथ के संपूर्ण फल का वर्णन किया है। सद्गुरु के उपदेश द्वारा होने वाला फल जो ग्रंथकार को प्राप्त हुआ है उसी को कह कर नमन करते हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि मैं प्राकृत जीवों के समान मूढ़ था मुझे अपना बोध नहीं था मैं अज्ञान अंधकार में फंसकर बारम्बार कष्ट को भोग रहा था, जब मैं कष्टों से दुःखी होता था तब कष्ट की निवृत्ति का उपाय करता था, निवृत्त हुए कष्ट के फिर फिर आने से यह कष्ट निवृत्ति का उपाय है या नहीं ऐसी शंका हुई; इस शंका से हमेशा के कष्ट निवृत्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई। मेरे पूर्व के पुण्य प्रभाव से मुझे सद्गुरु मिले, मैंने गुरु के पास विधिवत् रह कर गुरु कृपा से जगत् के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप स्वस्वरूप के बोध को प्राप्त किया। मैं अब निःशंक निर्भय और कृतार्थ होकर विचरता हूं और अन्य अज्ञानियों के ऊपर अनुग्रह के हेतु मुझे जो सद्-गुरु द्वारा प्राप्त हुआ है उसे प्रगट करता हूं।

अज्ञान की दशा में मैं अपने को एक तुच्छ जीव समझता था और ऐसे जीव भाव से ही दुःखी हुआ करता था। मैं महान् हूं ऐसा मुझे किंचित् भी ख्याल न था। सद्गुरु के कृपा कटाक्ष रूप उपदेश से मैं जान गया कि मैं तुच्छ जीव नहीं हूं। यह

संपूर्ण जगत् का भाव जिसमें हो रहा है, जो सब स्थान में व्यापक विष्णु है वह ही मेरा स्वरूप है। यह संपूर्ण विश्व मेरे में ही कल्पित है। संपूर्ण कल्पित विश्व का आधार मैं हूं! अहा हा !! मैं कितना महान् हूं ऐसा अनुभव करने में मैं समर्थ हुआ हूं। जिसकी कृपा से नित्य अखंडित अनुभव कर रहा हूं, जिसकी कृपा से सत् चित् आनंद स्वरूप का भान हो रहा है ऐसे परम गुरुदेव के चरणारविन्द को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूं।

तापत्रयार्क संतप्तः
कश्चिदुद्विग्न मानसः।
शमादि साधनैर्युक्तः
सद्गुरुं परिपृच्छति ॥३॥

अर्थ—तीनों प्रकार के ताप रूप सूर्य से तप्त हुआ, इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्त और शमादि साधनों से युक्त कोई अधिकारी ( मुमुक्षु ) श्री सद्गुरु से पूछता है।

## विवेचन।

अब अधिकारी को दिखलाते हुए ग्रंथारंभ करते हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की धूप में चलने से प्राणी गरमी से अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और गरमी से तपायमान हुआ मनुष्य शीतल छाया की चाहना करता है, ऐसे ही कोई अधिकारी पुरुष संसार के त्रिविध ताप से तपायमान हुआ व्याकुल होता है और

आत्म बोध रूप परम शांति की चाहना करता है। विवेक दृष्टि से देखा जाय तो संसार में कष्ट ही कष्ट भरा हुआ है; सब प्राणियों को अनेक प्रकार की चिन्ता प्रतिदिन जलाया करती है यह जलाने वाले ताप तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। इन तीन प्रकार के तापों में भी देश काल और प्रसंगादि से अनेक भेद हैं इन सब भेदों की कोई गिनती भी नहीं कर सकता। मन के इन्द्रिय के और स्थूल शरीर के भेद से अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत है। अन्तःकरण का जिस दुःख में मुख्य सम्बन्ध है ऐसा दुःख अध्यात्मिक दुःख है; जैसे चिंता, भय, आशाभंग, रोग, क्षुधा, पिपासा आदि से होने वाले दुःख। इन्द्रिय का जिसमें अधिक सम्बन्ध दीखता है ऐसा दुःख आधिदैविक है; जैसे शीत उष्ण वर्षा जल वायु यक्ष, राक्षस, प्रेत, ग्रह आदि से होने वाले दुःख। स्थूल शरीर का जिसमें मुख्य सम्बन्ध मालूम देता है ऐसा दुःख आधिभौतिक है; जैसे राजा. चोर, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणियों से होने वाले दुःख। ऐसे तीनों प्रकार के दुःख में कारण, सूक्ष्म और स्थूल का भेद होते हुए भी वे सब आन्तर में ही हुआ करते हैं। आन्तर को जलाने वाले होने से ताप कहे जाते हैं।

अन्तःकरण ही मैं हूँ इस प्रकार जीव ने समझ रखा है, इसीसे सब दुःख जीव को होते हैं। जीव हमेशा दुःख को छोड़ना चाहता है परन्तु छोड़ नहीं सकता। दुःख के बारम्बार अनुभव होने से पूर्व पुण्य का उदय होता है तब संसार की तरफ से मन उदास होता है और वैराग्य की तरफ रुचि होने लगती है।

संसार और संसार के दु:ख ग्रहण से हैं, इसीसे त्याग में दु:ख नहीं होगा ऐसा समझने लगता है। जब शुभ कर्म और उपासना से अन्त:करण शुद्ध होता है तब हीं ऊपर के समान वैराग्य का अंकुर पैदा होता है। शुभ कर्म से अन्त:करण में रहा हुआ मल दोष और इष्ट की उपासना से विक्षेप दोष निवृत्त होकर अन्त:करण शुद्ध होता है। जिसके मल विक्षेप नष्ट नहीं हुए हैं ऐसे किसी मनुष्य में वैराग्य दीखे तो वह नाम मात्र का होता है सच्चा नहीं होता। अन्त:करण की शुद्धि सहित ही वैराग्य स्थिर रह कर फल तक पहुंचाने में समर्थ होता है।

जब मुमुक्षु पुरुष जगत् को दु:ख रूप समझने लगता है तब ईश्वर की तरफ प्रेम बढ़ता है और वह नित्य और अनित्य का सामान्य विवेक करने लगता है। "संसार में जो जो देखता हूँ वे सब विकारी और नाशवंत हैं मैं देखने वाला ही जैसे का तैसा बना रहता हूं, इसीसे मैं ही सत्य हूँ, मैं आत्मा हूँ। आत्मा से विरुद्ध लक्षण वाले सब अनात्मा हैं" ऐसा जानना विवेक है। आत्मा नित्य है जगत् उससे विपरीत अनित्य है इसीसे उसे नित्यानित्य वस्तु विवेक भी कहते हैं। संपूर्ण ब्रह्मांड के पदार्थों के दो विभाग किये, बदलने वाला और कभी न बदलने वाला। आत्मा ही कभी न बदलने वाला नित्य है ऐसा जानना सामान्य विवेक है।

विवेक से मालूम हुआ कि आत्मा ही सत्य है उसका ग्रहण करना चाहिये उसके ऊपर ही प्रेम करना चाहिये और अनात्मा पर प्रेम न करना चाहिये अनात्म भाव को छोड़ना चाहिये।

अनात्म को सत्य समझ कर दुःखी था, ऐसा समझने के बाद भी वहुत जन्मों का अध्यास होने के कारण जल्दी से अनात्म को छोड़ना तो दूर रहा, उस पर वैराग्य का भाव भी नहीं होता, इसीसे वारम्बार विचार करके दोष दृष्टि से अनात्म में वैराग्य की स्थिरता करने जाता है तव मन इन्द्रियां ठीक २ वश में न होने से वैराग्य को कर नहीं सकता इसीसे शम दमादि साधन, जो विद्वानों ने षट् संपत्ति रूप से कथन किये हैं उसे करना पड़ता है।

मनका वश करना शम है। मन किसी विषयमें लगा हो इच्छा करते ही मन को वहां से हटा लेनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो और जिस में लगाने की इच्छा हो उसमें भली प्रकार से लग भी जाय इस प्रकार मनका वश में होजाना शम है। शम की सिद्धि से वैराग्य की सिद्धि हो सकती है। प्रायः मनका भटकना इन्द्रियों के सहारे से होता है, इन्द्रियां वश में हों तव मन ठीक ठीक वश में हो सकता है इसीसे दम-इन्द्रिय दमन-इन्द्रियों को भी वश में करे। इन्द्रियां अपने अपने विषय की तरफ तेजी से दौड़ जाती हैं वे भेजी हुई ही जायं, न भेजी हुई वलात्कार से न जायं यह दम यानी इन्द्रियों की वश्यता है।

शंका—मन और इन्द्रियों को भिन्न भिन्न वश में करने की क्या आवश्यकता है ? इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन विना नहीं होती, जब मन वश में हो जायगा तव इन्द्रियां अपने आप वश में हो जायगीं।

समाधान—मन पूर्ण वश में होजाय तव जैसा तू कहता है ऐसा होना संभव है परन्तु इन्द्रियां वश किये विना मन का वश करना कठिन है। कुछ मन भीतर से रुकावट करे और इन्द्रियां वाहर से रुक जायं इस प्रकार करने से शम दम की सिद्धि हो सकती है।

शम दम की सिद्धि में श्रद्धा समाधान उपरति और तितिक्षा की भी आवश्यकता है। श्रद्धा सद्गुरु और सत् शास्त्र पर की जाती है। सद्गुरु और सत् शास्त्र जो कहते हैं वह ठीक है ऐसे विश्वास कर लेने का नाम श्रद्धा है न्यूनाधिक प्रमाण में सव में श्रद्धा की जाती है परन्तु यहां ज्ञान के अधिकारी के लक्षण का वर्णन होने से उपरोक्त श्रद्धा ही उसको मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी है। सत् यानी सत्स्वरूप परब्रह्म की आत्म स्वरूप से एकता के बोध कराने वाले ही सद्गुरु होते हैं, सत् की प्राप्ति कराने वाले सद्गुरु हैं। अज्ञान का नाश करके ज्ञान प्रकाश वा आत्मा का बोध कराकर उसकी परब्रह्म से एकता कराने वाला और जगत् में से उद्धार कराने वाला सद्गुरु होता है। सत् स्वरूप को प्राप्त कराने वाले सत् शास्त्र हैं अन्य शास्त्र तो फल प्राप्ति अथवा योग्यता प्राप्त करने के हेतु हैं और कर्म उपासना दिखलाते हैं। ज्ञानका अधिकारी कर्म और उपासना से आगे गया हुआ होता है इससे ज्ञान प्रतिपादक वेदान्त शास्त्र ही उस अधिकारी का सत् शास्त्र है; उस शास्त्र के अवलम्बन के सिवाय किसी अन्य अव-लंबन से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। सत् शास्त्र और सद्गुरु इन दोनों के ऊपर विश्वास-निश्चय का होना श्रद्धा है। जैसे अन्धा

मनुष्य दूसरे के सहारे मार्ग चलता है इसी प्रकार मुमुक्षु अधिकारी सद्‌गुरु और सत् शास्त्र के सहारे चलता है।

अत्यन्त चंचल मन वाला पुरुष अज्ञान निवृत्ति के मार्ग में आगे चल नहीं सकता, जब तक मन को अधिक चंचल करने वाले विक्षेप दोष का नाश न हो तब तक ऊपर कहे हुए शम दम और श्रद्धा भी नहीं होते इसीसे मन के विक्षेप का नाश करना चाहिये। जीवको विक्षेप ही सम भाव में आने नहीं देता। विक्षेप मन से हुआ करता है इससे विक्षेप को छोड़ने वाला मन समाधान मन कहा जाता है, यह आरम्भ की समता ही वृद्धि को प्राप्त होकर ब्रह्म साक्षात्कार सहित निर्विकल्पता को प्राप्त होती है।

मोक्ष मार्ग के अधिकारी बनने वाले को शास्त्रोक्त कर्म और उपासना की अधिक आसक्ति छोड़नी चाहिये। जब तक उनमें आसक्त है तब तक अधिकारी होकर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ज्ञान मार्ग कर्म और उपासना करके शुद्ध किये हुए अन्तःकरण वाले का है यदि कर्मादिक करने की आसक्ति रूप अहंभाव रहे तो अहंभाव जिसमें छोड़ना है ऐसा ज्ञान कैसे होगा? कर्म और उपासना जगत् में फल देने वाले हैं और ज्ञान अज्ञान स्वरूप जगत् को हटाने वाला है इसी कारण कर्म और उपासना से भी शान्त होना उपराम है। जैसे कोई कार्य करते करते कार्य करने को छोड़ देता है तब उसे उपराम हुआ ऐसे कहते हैं इसी प्रकार कर्म उपासना से निवृत्त होना ही उपराम है। शरीर रहते हुए संपूर्ण क्रिया छूट नहीं सकती इससे सामान्य

क्रिया करते हुए आसक्ति का न होना उपराम है। जगत् और जगत् के कर्म फल से उपराम को प्राप्त हुआ ज्ञान का अधिकारी हो सकता है।

शरीरासक्ति सब आसक्तियों में अधिक बलिष्ठ है अज्ञानी जीव अपने स्वस्वरूप को यथार्थ जानता नहीं है, देखने में आने वाले शरीर को मैं हूँ इस प्रकार समझ कर वर्तता है। यह देहासक्ति मोक्ष मार्ग में प्रतिबन्ध रूप है। इस शरीरासक्ति को हटाने के लिये तितिक्षा का अभ्यास करना चाहिये। निश्चय में स्थिर रहकर शरीरादि पर होने वाले शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों के कष्ट सह लेना, उसमें ग्लानि को प्राप्त न होना इसीको तितिक्षा कहते हैं। दुःख को सह लेने का नाम तितिक्षा है। जीवों को जो जो कष्ट होते हैं वे सब भोगने ही पड़ते हैं तितिक्षा वाला और तितिक्षा रहित सहन तो दोनों कर लेते हैं परन्तु दोनों में यह भेद है कि तितिक्षा वाला अपनी दृढ़ता से सहन करते हुए दुःखी नहीं होता और तितिक्षा रहित पुरुष चिल्लाता हुआ दुःखी होता है। मरा नहीं जाता इसी कारण बलात्कार से सहन करता है इसीसे वह तितिक्षा नहीं है। तितिक्षा के पालनसे मन इन्द्रियां और शरीर दृढ़ होते हैंओर शरीरासक्ति न्यून होती है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपराम और तितिक्षा इन छःओं को षट् सम्पति कहते हैं।

जब मनुष्य नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य और षट् सम्पति सहित मोक्ष की इच्छा करता है तब वह ठीक ठीक मुमुक्षु होता है। प्रथम विवेक के समय में मोक्ष की इच्छा

थी वह ही अब योग्यता सहित होने से दृढ़ होती है। संसार में भ्रमण करते हुए दुःख ही दुःख भोगा है इससे ऐसे भ्रमण और उसके दुःख की अत्यंत निवृत्ति होकर जिस आनंद का कभी क्षय नहीं होता ऐसे परमानंद को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा है, इन दोनों भाव युक्त मुमुक्षु होता है। भाव दो होते हुए भी स्वरूप में एक हो जाते हैं।

सामान्यता से सब मनुष्य आनंद-मोक्ष को चाहते हैं परन्तु योग्यता रहित होने से वे मुमुक्षु नहीं कहलाते। वह मोक्ष की इच्छा कथन मात्र है फल को देने वाली नहीं है। सच्चे मुमुक्षु की जगत् में से रुचि ही उठ गई होती है जगत् उसे कष्टमय दीखता है और परमानंद की प्राप्ति के यत्न में लगा हुआ होता है; अभी परमानंद प्राप्त नहीं हुआ है और चाहना है इसीसे व्याकुल भी रहता है, यह व्याकुलता उसे अज्ञान निवृत्त करने में तीव्र वेग वाला बनाती है।

सच्चे मुमुक्षु का दरजा बहुत श्रेष्ठ होता है। शास्त्रोक्त शुभ कर्म और उपासना जो फल देते हैं और जिस लोक में फल भोगा जाता है इन सब से ही मुमुक्षु आगे गया है। कर्म फल को प्राप्त करने से, कर्म फल को छोड़ने वाले को अधिक फल होता है और उस मुमुक्षु पुरुष का तो फल भी मोक्ष की इच्छा से क्षीण हुआ है और आत्म भाव से युक्त होने से श्रेष्ठ है। केवल ज्ञानी-जीवन्मुक्त को छोड़ कर और सब मनुष्यों और देवताओं से भी वह श्रेष्ठ होता है तीव्र मुमुक्षुता होने से उसको ज्ञान प्राप्ति सिवाय अन्य कुछ हो नहीं सकता यानी कभी भी गिरता नहीं इसी से

कर्म और उपासना के फल के स्थान कार्य ब्रह्म से भी वह आगे गया है।

संसार के तापों से तपायमान हुआ, ज्ञान के अधिकारी के लक्षण जो ऊपर दिखलाये हैं इनसे युक्त हुआ कोई एक उत्तम अधिकारी मुमुक्षु पुरुष विधिवत् गुरु के शरण में जाकर आत्मोपदेश के हेतु गुरु से प्रार्थना करने लगा:—

अनायासेन येनास्मा-
न्मुच्येयं भव बन्धनात् ।
तन्मे संक्षिप्य भगवन्
केवलं कृपया वद ॥४॥

अर्थ—( शिष्य ) अनायास ही जिस साधन से मैं संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जाऊं; हे भगवन् ! वह साधन केवल कृपा करके मुझे संक्षेप में कहिये।

## विवेचन ।

साधन सम्पन्न और तीव्र बुद्धि वाला होने से उत्तम अधिकारी सद्गुरु से उपदेश करने की प्रार्थना करता है, इसीसे परिश्रम रहित मुख्य साधन को ही पूछ रहा है। उसको संसार बन्धन रूप है ऐसा पूर्ण निश्चय है इसी कारण संसार बन्धन से मुक्त होना चाहता है। संसार जिसको बन्धन रूप नहीं मालूम देता उसे संसार बन्धन से मुक्त होने का भाव भी नहीं होता।

जैसे किसी रस्से के दृढ़ वन्धन को काटने के लिये छुरे की आव-श्यकता है, वन्धन काटने वाला छुरा होता है इसी प्रकार कौन से साधन द्वारा मैं संसार बन्धन को काट सकता हूं; मुझे ऐसा साधन दिखलाइये जो मेरे लिये सुलभ हो, जिसमें मुझे अधिक परिश्रम करना न पड़े और अनायास आनंद पूर्वक साधन द्वारा साध्य ऐसा जो परम पद है उसकी सिद्धि हो जाय।

शंका—वन्धन में से निवृत्त करने के साधन रूप सब शास्त्र हैं; अनेक प्रकार के कर्म, यज्ञ, उपासना, भक्ति, ज्ञान, योग और नीति तक सब कल्याण के साधन कहे गये हैं, सब शास्त्रों का ध्येय परम शांति है, फिर शिष्य सुलभ साधन को क्यों पूछता है ? क्या साधनों में भी कठिन और सुलभ होगा ? साध्य को सिद्ध करने के लिये साधन हैं ऐसे साधनों में इस प्रकार के भेद क्यों किये गये ? यदि कठिन साधन है तो सुलभ साधन को छोड़ कर कठिन साधन कौन करेगा ?

समाधान—बंधन में से निवृत्त करने वाले और परमानंद को प्राप्त कराने के हेतु सब शास्त्र हैं और उनमें वर्णन किये हुए कर्म उपासनादि साधनभूत हैं, परन्तु यह सब परंपरा से साधन हैं, मुख्य साधन नहीं है, परंपरा के साधन होने से वे निरर्थक भी नहीं हैं। यहां सुलभ का कथन उत्तम अधिकारी का है यह उत्तम अधिकारी होने से परमपद के मुख्य साधन को पूछ रहा है। अवांतर साधन उसके उपयोग के नहीं हैं और उसे कठिन भी हैं अवांतर साधनों करके गुरु शरण में आया है इससे उसको

इनकी आवश्यकता नहीं है। सुलभ और कठिन वस्तुतः कोई नहीं है, जो जिसका अधिकारी होता है उसे वह साधन सुलभ होता है और दूसरे प्रकार के अधिकारियों को वह साधन कठिन होता है। मुमुक्षु होकर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त हुए उत्तम अधिकारी को योग मार्ग कठिन है और योग के अधिकारी को श्रवणादि कठिन होते हैं। उसे श्रवणादि से निर्विकल्प स्थिति-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

ज्ञान के सिवाय सब साधन परिश्रम से होने वाले हैं यानी कर्म में अनेक प्रकार की सामग्री, मनुष्यादि की आवश्यकता है, योग परिश्रम रूप ही है और उपासना भक्ति भी परिश्रम से होती है यह सब कर्म स्वरूप है। ज्ञान कर्म स्वरूप न होने से सुलभ-परिश्रम से रहित है।

शंका—ज्ञान कर्म रूप क्यों नहीं है ? श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है। श्रवण करना इन्द्रिय का कर्म है और मनन और निदिध्यासन अन्तःकरण के कर्म हैं।

समाधान—श्रवण मनन और निदिध्यासन में जो क्रिया हैं वे ज्ञान को उत्पन्न करने वाली नहीं हैं वे अज्ञान को निवृत्त करने वाली हैं। यदि ज्ञान को उत्पन्न हुआ माना जाय तो उसका नाश भी होना चाहिये और श्रुतियों में ज्ञान को एक रस अखंडित कहा है। उत्पन्न हुए का नाश सब कोई देखते हैं इसीसे ज्ञान नित्य है। जिस अज्ञान से आत्मा का बोध नहीं होता था उस अज्ञान के हट जाने से बोध होता है। स्थूल बुद्धि से ज्ञान अन्तःकरण की क्रिया

रूप दीखता है तब भी वह क्रिया रूप नहीं है। भाव का बदलना ज्ञान है उसमें क्रिया क्या ? विशेष ज्ञान को तू सूक्ष्म क्रिया रूप माने तब भी उसमें परिश्रम क्या ?

शिष्य सद्गुरु को संक्षेप से उपदेश करने की प्रार्थना करता है उसका भाव यह है कि "कर्म और उपासना के विधान का बहुत विस्तार है, इन सबको एक मनुष्य कर भी नहीं सकता अनेक अधिकारियों के लिये उसकी अनेकता है। वे भी निष्कामता से अन्तःकरण की शुद्धि के हेतु न किये हों और कामना का भाव हो तब संसार में भ्रमण करने के हेतु होजाते हैं। मैं संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करके कष्ट को भोगता रहा हूँ इससे मैं भोग ऐश्वर्य में पड़ कर संसार भ्रमण को नहीं चाहता। निष्काम कर्म उपासना से जो अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल होता है वह मुझे प्राप्त ही है इसलिये मुझे आत्मज्ञान के उपदेश की आवश्यकता है। उपदेश संक्षेप से और विस्तार से भी होता है। मंद बुद्धि वाला विस्तार से दिये हुए उपदेश को ग्रहण कर सकता है और तीव्र बुद्धि वाले मनुष्य को तो संक्षेप से दिये हुए उपदेश से बोध होजाता है मेरी बुद्धि तीव्र है इसीसे संक्षेप से किये हुए उपदेश से मुझे बोध हो जायगा। गुरुजी को अधिक परिश्रम कराना भी ठीक नहीं है।"

हे भगवन्! आप केवल कृपा करके ही मुझे उपदेश दीजिये यद्यपि मैं आपका शिष्य हूँ कुछ समय से आपके पास रहता हूँ तो भी आपके उपदेश का बदला देने में मैं असमर्थ हूँ। मेरी क्या,

अधिक में अधिक ऐश्वर्य वाले भी आपके अमृत्त प्राप्ति रूप आत्म बोध के उपदेश का बदला देने में समर्थ नहीं होते। मनुष्य एक पदार्थ को देकर दूसरे से दूसरा पदार्थ को ग्रहण करता है परन्तु आपके किये हुए उपदेश के बदले में देने योग्य कोई पदार्थ ही तीनों लोक में नहीं है, तीनों लोक का ऐश्वर्य वाला राज्य भी आपके उपदेश का कोट्यांश नहीं है। इसीसे हम लोगों के कल्याण में आपकी कृपा ही मुख्य है। अहैतुक उपकार करने वाले आप ही हो। अनंत काल से भटके हुए जीवों को अपने आद्य स्थान में स्थिर होने का आपका ही उपदेश है। आपकी दृष्टि में सब कुछ सामर्थ्य है। मैं स्वस्वरूप की प्राप्ति का थोड़ा उपदेश ही आपसे चाहता हूँ।

साध्वी ते वचन व्यक्तिः
प्रतिभाति वदामि ते।
इदं तदिति विस्पष्टं
सावधान मनाःशृणु ॥५॥

अर्थ—( गुरु— ) हे शिष्य, सज्जन मनुष्य जिस प्रकार कथन करते हैं ऐसी तेरी वाणी योग्य है। "यह ही मुक्ति का साधन है" इस प्रकार स्पष्ट रूप से मैं मुक्ति के साधन का कथन करता हूँ उसे तू एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर।

## विवेचन

प्रश्न करने वाले पुरुष की प्रश्न के शब्दोच्चार के साथ योग्यता प्रतीत होजाती है; योग्यता का प्रकाश शब्दों से बाहर चमकता

है। सुनने वाले पुरुष शब्दों से ही कई अंश में बोलने वाले को पहिचान जाते हैं। जब तक मनुष्य चुप बैठा रहता है तब तक उसकी योग्यता का ख्याल आना भी कठिन होता है। शिष्य का प्रश्न सुनकर शिष्य की योग्यता को समझ कर गुरु प्रसन्न हुए, कुछ समय से शिष्य गुरु के पास रहता था शिष्य की योग्यता मालूम थी फिर भी कल्याणकारक प्रश्न से प्रसन्न होकर स्पष्ट रूप से साधन के कथन करने को कहते हैं। हे शिष्य ! तू मुझसे मुक्ति का साधन पूछता है, साधन करके सिद्ध होने वाली मुक्ति है। मुक्ति क्या वस्तु है यह तूने पूछा नहीं है, तू अधिकारी होने से मुक्ति का सामान्य बोध तुझे है, इसीसे केवल साधन पूछा है, यह योग्य ही है। बन्धन से छूटने का नाम मुक्ति है, कितने ही प्रकार की आपेक्षिक मुक्ति हैं और अखंड मुक्ति तो एक ही है जिसको मोक्ष भी कहते हैं। अज्ञान ही बन्धन है, अज्ञान में पड़ा हुआ जीव बन्धन में है और इस अज्ञान का हट जाना पूर्ण मुक्ति यानी मोक्ष है। अज्ञान किस करके हटता है यह तेरा प्रश्न है। शिष्य को विधिवत् गुरु की शरण में जाकर, श्रुति इस प्रकार के प्रश्न करने की आज्ञा देती है इसीसे तेरा प्रश्न योग्य ही है।

जो पुरुष स्वयम् मोक्ष को प्राप्त कर चुका है वह ही मोक्ष का साधन बता सकता है, छूटा हुआ ही दूसरे को छुड़ा सकता है इससे ज्ञान का उपदेश करने वाला सद्गुरु वह ही होता है जो स्वयम् बन्धन से रहित हुआ हो और दूसरे को युक्ति, प्रयुक्ति, शास्त्र और अनुभव की वाणी द्वारा बन्धन में से निकाल कर स्वस्वरूप में स्थापित करने के योग्य

होता है। इसीसे यहां सद्गुरु का कथन है कि तूने जो मुक्ति का साधन पूछा है "यह ही मुक्ति का साधन है" इस प्रकार तुझे प्रत्यक्ष हो जाय ऐसी रीति से मैं समझाऊँगा। तू एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर। जो बात जिसको हस्तामलकवत् होती है उस सम्बन्ध के विवेचन में कथन करने वाले की वाणी में अनुभव का प्रकाश चमकता है और ऐसा पुरुष ही निश्चय पूर्वक समझाने में समर्थ होता है और योग्य अधिकारी ग्रहण कर सकता है।

अनेक विषयों में भटकाने वाला चंचल मन भी जब कोई कार्य करता है तब एक समय में एक ही कार्य को करता है यदि एक कार्य करते हुए दूसरे कार्य में मन चला जाय तो कार्य ठीक नहीं होता। इसी कारण सद्गुरु के वाक्य शिष्य को एकाग्र चित्त से श्रवण द्वारा लक्ष करने योग्य है। गुरु का दिया हुआ उपदेश शिष्य को श्रवण का विषय होता है और शिष्य के किये श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है। श्रवण गुरु कराते हैं और मनन निदिध्यासन मुमुक्षु को स्वयम् करना होता है इससे श्रवण के हेतु चित्त का एकाग्र होना आवश्यक है। ज्ञान का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, बुद्धि से बाहर के तत्त्व को आत्म भाव वाली बुद्धि से समझना है इसीसे एकाग्रता रहित किया हुआ श्रवण निष्फल जाता है।

तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थं
यज्जीव परमात्मनोः।

तादात्म्य विषयज्ञानं
तदिदं मुक्ति साधनम् ॥६॥

अर्थ—(गुरु—)"तत्त्वमसि" आदि महावाक्य के श्रवण से उत्पन्न हुआ जीवात्मा और परमात्मा का एक रूप से विषय करने वाला ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार ही मुक्ति का साधन है।

## विवेचन।

ज्ञान मुक्ति का साधन है ऐसा गुरु के कथन करने में शंका होती है कि ज्ञान कई प्रकार के हैं। जाग्रत अवस्था में जगत् के सब पदार्थों का ज्ञान, स्वप्नावस्था में स्वप्न पदार्थ का ज्ञान और सुषुप्ति अवस्था में पदार्थों के अभाव का ज्ञान होता है उसमें कौन सा ज्ञान मुक्ति का साधन है ? तीनों अवस्था में प्रत्येक प्राणी को ज्ञान होता है उस ज्ञान से मुक्ति हो तब तो बिना परिश्रम, बिना शास्त्र गुरु सब किसी की मुक्ति हो जायगी। तीनों अवस्था के अनेक पदार्थ के ज्ञान भी अनेक प्रकार के हैं उनमें कौन ज्ञान मुक्ति का साधन है इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि ऐसे ज्ञान से मुक्ति नहीं होती यह सब ज्ञान अज्ञान में हैं इसीसे अज्ञान ही कहे जाते हैं। जिस ज्ञान से अनादि अविद्या का नाश हो उसे ही आत्मज्ञान—वास्तविक ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञानमें अज्ञान बना रहता हो उसे ज्ञान न कहना चाहिये; यह ज्ञान व्यावहारिक, प्रातिभासिक और अभावरूपही है और जगतके पदार्थका ज्ञानहै इसीसे महावाक्य के ज्ञान से ही मुक्ति होती है। शास्त्र अनेक है उनमें वाक्य अनेक हैं; शास्त्रों में वेद मुख्य कहा जाता है, वेद चार हैं, एक एक वेद

में बहुत से वाक्य हैं उसमें से कौन कौन ग्राह्य हैं ? इस शंका के उत्तर में गुरु कहते हैं कि चारों वेदों में से प्रत्येक वेद में एक एक महावाक्य विद्वान् पुरुषों ने निश्चित किये हैं और अन्य वाक्यों को अवांतर वाक्य कहा है। अवांतर वाक्य कर्म और उपासना के हेतु हैं और परोक्ष ज्ञान में भी उपयोगी होते हैं परन्तु महावाक्य तो अपरोक्ष ज्ञान का ही हेतु है महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान ही होता है। अज्ञान को नाश करने वाले ज्ञान भी दो प्रकार के हैं, परोक्ष और अपरोक्ष। अपरोक्ष ज्ञान अभेद रूप होता है, परदा रहित होता है; बोध, बोध का पदार्थ और बोध की वृत्ति एक ही स्थान पर होती है। परोक्ष ज्ञान से अज्ञान के असत्वापादक-'नहीं है' इस अंश का नाश होता है और अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान के दूसरे अंश अभानापादक-'प्रकाशता नहीं है' का नाश होता है। इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान से संपूर्ण अज्ञान निवृत्त होता है। प्रथम परोक्ष ज्ञान के बाद अपरोक्ष ज्ञान होता है केवल परोक्ष ज्ञान मुक्ति का मुख्य हेतु नहीं है और परोक्ष ज्ञान बिना अपरोक्ष ज्ञान होना संभव ही नहीं है, परोक्ष ज्ञान सहित ही अपरोक्ष ज्ञान होता है और वह ही मुक्ति का मुख्य साधन है। ऐसा अपरोक्ष ज्ञान महावाक्य से होता है, चारों वेद में चार महावाक्य हैं उनमें से कौन से महावाक्य से अपरोक्ष बोध होता है ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि सब ही महावाक्य होने से किसी एक अथवा अधिक से आत्मबोध हो सकता है इसीसे तत्त्वमस्यादि का कथन किया है। तत्त्वमसि महावेद सामवेद का है गुरु शिष्य को सुनाता है इसीसे

यह वाक्य सुगम होता है अनेक प्रकार से परब्रह्म का वर्णन करके वर्णन किया हुआ वह तू है इस प्रकार उपदेश दिया जाता है और सब वेदों में सामवेद की विशेषता होने से तत्त्वमसि महावाक्य में अन्य महावाक्य से विशेषता है। गुरु के उपदेश से शिष्य को अहं ब्रह्मास्मि का ज्ञान होता है। तत्त्वमसि समझाने का वाक्य है और अहं ब्रह्मास्मि समझे हुए का वाक्य है। महावाक्य से उत्पन्न हुआ दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जो असंभावना और विपरीत भावना से रहित है वह मोक्ष का मुख्य साधन है। ईश्वर तू है ऐसा शब्द सुनकर मंद अधिकारी चौंकता है उसे ईश्वर और अपने में महान् विरोध भासता है और उत्तम अधिकारी तो विरोध भासते हुए भी शंका को स्थान नहीं देता; ग्रन्थकार इस विरोधाभास का समाधान स्वयम् आगे करेंगे।

जब अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, भेद रहित अभेद—एकता का ज्ञान होता है तब ही समूल अज्ञान कट जाता है और मोक्ष को प्राप्त होता है। जीव वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है ऐसा तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है अन्य किसी प्रकार से अखंडित मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अपने आत्मा के अज्ञान से बन्धन है, इसीसे जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब बन्धन नहीं रहता और अपना आद्य स्वरूप सच्चिदानंदमय होता है, उसी का नाम मोक्ष कहा जाता है।

अन्य ज्ञान से आत्म ज्ञान की विलक्षणता है। अन्य जितने ज्ञान हैं वे सब बुद्धि वृत्ति से ग्राह्य और बुद्धि वृत्ति में पड़े हुए मायिक ऐसे आभास से प्रकाशित होते हैं। अभेद आत्म ज्ञान

में—स्वस्वरूप के ज्ञान में बुद्धि वृत्ति से ग्राह्य होते हुए स्वयम् प्रकाश से प्रकाशित है। बोध आत्म भाव वाली सूक्ष्म और शुद्ध बुद्धि में होकर यानी त्रिपुटी में होकर अभेद हो जाता है। बुद्धि जो मायिक भाव वाली है वह अपने मायिक भाव को छोड़कर चैतन्य हो जाती है उसे साक्षात्कार कहते हैं; ऐसा साक्षात्कार-ज्ञान मोक्ष का हेतु है। गुरु ने इस प्रकार ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप को दर्शाया है। शुद्ध अन्तःकरण और वैराग्य वाले मुमुक्षु को समझना बहुत सुलभ है। 'मैं उत्तम अधिकारी हूं शंका करने में मेरी हंसी होगी' ऐसा भय शिष्य को रखना न चाहिये जब तक बोध दृढ़ होकर नहीं टिके वहां तक प्रश्न करके समझते रहना चाहिये।

को जीवः कः परश्चाऽऽत्मा
तादात्म्यं वा कथं तयोः।
तत्त्वमस्यादि वाक्यं वा
कथं तत् प्रतिपादयेत् ॥७॥

अर्थ—(शिष्य)—जीव कौन है और परमात्मा कौन है? और इन दोनों के स्वरूप का तादात्म्य (एकता) क्या है? वह तत्त्वमस्यादि महावाक्य जीव ईश्वर की एकता का किस प्रकार प्रतिपादन करते हैं?

## विवेचन।

गुरु ने समझने के हेतु शंका करने की अनुमति दी है ऐसा जान कर शिष्य पूछना चाहता है। उत्तम अधिकारी होने से उसमें पूर्व जन्म के धर्म के संस्कार थे, इसीसे गुरु

के शरण में आने के प्रथम धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र पढ़ लिये थे, उनमें जीव का स्वरूप भिन्न २ प्रकार से वर्णन किया है ऐसा वह जानता था तब भी उसने कोई निश्चय किया न था। वह विचारने लगा कि गुरुजी ने तत्त्वमसि महावाक्य के सहारे जीव ब्रह्म की एकता करने का नाम ज्ञान कहा है, जिनकी एकता करना है इन दोनों के स्वरूप को प्रथम समझना चाहिये। जीव कोई देखने का पदार्थ नहीं है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से इन्द्रियों का विषय नहीं होता इस प्रकार कई शास्त्रों का कथन है। उसे स्थूल शरीर के सहारे कुछ समझा जाता है परन्तु वास्तविक स्वरूप जाना नहीं जाता। शास्त्रों में उसके स्वरूप का भिन्न भिन्न प्रकार से कथन है। कोई लोग स्थूल शरीर जो जन्म मरण वाला और विकारी है उसे ही आत्मा यानी जीव कहते हैं। कोई गमनागमन करने वाले प्राण को ही आत्मा मानते हैं और प्राण से ही चेष्टा होने का प्रमाण देते हैं। कोई प्राण को जड़ कह कर उसे आत्मा न मानकर मन को आत्मा मानते हैं मनमें ही चेतनता है ऐसा वह कहते हैं। कोई बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं, बुद्धि से आगे बोध करने वाला कोई नहीं है इससे बुद्धि ही आत्मा है। कोई सुषुप्ति अवस्था वाले को आत्मा कहते हैं और वे लोग आत्मा को जड़ मानते हैं मन के :संयोग से आत्मा में ज्ञान गुण पैदा होता है ऐसा कहते हैं वास्तविक आत्मा जड़ है। दूसरे लोग आत्मा को जड़ और चेतन दोनों प्रकार का खद्योत के समान मानते हैं। कोई आत्मा को अणु परिमाण, कोई मध्यम परिमाण और कोई महान् मानते हैं; कोई अन्तःकरण के धर्म को

आत्मा के धर्म कहते हैं, कोई सब विकार अन्तःकरण के मान कर आत्मा को अविकारी शुद्ध है ऐसा कथन करते हैं। कोई उसे सुख दुःख का वास्तविक भोक्ता मानते हैं और कोई अविद्या के संग से आत्मा जो स्वरूप से शुद्ध है उसमें भ्रान्ति से कर्तृत्व का आरोप मात्र ही मानते हैं। इस प्रकार जीव-आत्मा के स्वरूप में शास्त्रकारों में अनेक भेद हैं इसीसे जब तक जीव के स्वरूप का निर्णय न हो तब तक परब्रह्म के साथ एकता किस प्रकार से की जाय ? इसीसे जीव के स्वरूप को प्रथम जानना चाहिये ऐसा विचार कर, वह गुरु से पूछता है कि जीव कौन है ?

ईश्वर ( परमात्मा ) के साथ जीव की एकता करना है इसीसे ईश्वर के स्वरूप को भी समझना चाहिये। कोई ईश्वर और परमात्मा को एक ही कहते हैं और कोई भिन्न भी कहते हैं। ईश्वर और परब्रह्म को एक कहने वाले तत्त्व की दृष्टि से एक कहते हैं और भिन्न कहने वाले मायायुक्त को ईश्वर और माया के अधिष्ठान को परमात्मा कहते हैं। ईश्वर सृष्टि का करने वाला और जीवों के कर्म का फल देने वाला है और स्वयम् बन्धन से रहित है, कोई उसे अक्रिय कहते हैं। कोई कर्म को ही ईश्वर कहते हैं, जो कोई ईश्वर हो तो वह भी कर्म से बना है। कोई काल को ही ईश्वर कहते हैं क्योंकि काल में ही उत्पत्ति स्थिति और लय हुआ करते हैं। कोई ईश्वर को सगुण, कोई निर्गुण और कोई सगुण निर्गुण दोनों ही मानते हैं। कोई व्यापक कहते हैं तो कोई स्थान विशेष में रहने वाला आकृति युक्त और अपने प्रकाश से सब स्थान में व्यापक, आकृति वाला होकर भी पंच भौतिक नहीं है,

दिव्य स्वरूप है और अहेतु कल्याण करने वाला है ऐसा मानते हैं। कोई ऐश्वर्य को ही ईश्वर कहते हैं, कोई सर्वज्ञ कहते हैं कोई जड़ कहते हैं, कोई जड़ चेतन उभय रूप कहते हैं। कोई जीव से ईश्वर को पृथक् कहते हैं, कोई संपूर्ण जीवों के एक समष्टि भाव को ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप के कथन में शास्त्र और लोगों की एकता नहीं है, तव ईश्वर ( परमात्मा ) के साथ जीव की एकता कैसे करनी होगी ऐसा विचार करके शिष्य गुरु से पूछता है, परमात्मा कौन है ?

जीव से ईश्वर अधिक सामर्थ्य वाला है जीव नियम में रहने वाला और ईश्वर नियम में रखने वाला है, जीव अल्पज्ञ, अल्प शक्ति, उत्पत्ति नाशवान और विकारी है; ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्ति, उत्पत्ति नाश रहित और अविकारी है, इस प्रकार दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है ऐसे विरुद्ध धर्मों वाले की एकता किस प्रकार हो। जब तक विरुद्ध धर्म है तव तक एकता हो नहीं सकती और विरुद्ध धर्म न रहे ऐसा कोई उपाय भी नहीं दीखता, तव दोनों की एकता कैसे होगी ? ऐसा विचार करके शिष्य कहता है कि हे गुरु महाराज ! आपने जीव ब्रह्म की एकता कही परन्तु एकता होने की संभावना मुझे दीखती नहीं है। दोनों के धर्मों में विरोध है तव एकता किस प्रकार होगी ?

मेरा दिल एकता होगी इस वात को स्वीकार नहीं करता। आपने ज्ञान होने का साधन उसे बताया है, श्रुति भी एकता को कहती है तब श्रुति का वाक्य किस प्रकार मिथ्या होगा ? कुछ

समझने में नहीं आता। वेदके शिरो भाग रूप उपनिषद् के कथन को मिथ्या किस प्रकार कहा जाय ? एक तरफ दोनों के विरुद्ध धर्म और दूसरी तरफ श्रुति वाक्य, इससे निर्णय नहीं होता, यह महान् शंका है, अपने आप विचार करने से शंका की निवृत्ति न होती हुई देखकर शिष्य पूछ रहा है कि हे गुरुदेव, विरोध धर्म वाले जीव और ईश्वर की एकता श्रुति किस प्रकार करती है, समानता दोनों में नहीं है। मुझे यह मालूम है कि श्रुति वाक्य मिथ्या नहीं है, श्रुति एकता किस प्रकार से करती है उसे समझाइये।

अत्र ब्रूमः समाधानं
कोन्यो जीवस्त्वमेव हि।
यस्त्वं पृच्छसि मां कोहं
ब्रह्मैवासि न संशयः ॥८॥

अर्थ—( गुरु ) हे शिष्य! तेरे पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर देता हूँ तेरे सिवाय जीव अन्य कौन होगा ? तू ही जीव है तू मुझे पूछता है कि "मैं कौन हूँ" उत्तर यह है कि तू ब्रह्म ही है इसमें संशय नहीं है।

## विवेचन।

शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि तेरे सिवाय जीव और कोई नहीं है तू ही जीव है क्योंकि शरीरादिक समुदाय को तू 'मैं हूँ' इस प्रकार नहीं कहता, यह सब 'मेरे हैं' ऐसा कहता है

और अपने जीव के सुख के निमित्त सब चेष्टा करता है, तू जीव न हो तो और कोई जीव होने की योग्यता रखता नहीं है। जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं, जड़ पदार्थ सुख दुःख का भोक्ता बन नहीं सकता, जड़ में अपना और दूसरे का ज्ञान नहीं है इससे चेतन ही भोक्ता सुखी दुःखी जीव होने के योग्य है। जो चेतन स्वरूप है वह ही जीव बना है।

शिष्यः—चेतन एक है, अखंडित है वह जीव कैसे बना? जीव अनेक दीखते हैं, अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न व्यवहार करते हैं तब अखंड चेतन जीव किस प्रकार होगा? चैतन्य पदार्थों का पृथक् बोध कर नहीं सकता और वह व्यापक होने से आने जाने से रहित, विकार से रहित, अकर्ता अभोक्ता है तब वह जीव किस प्रकार हो सकता है?

गुरु—तेरा कहना ठीक है परन्तु जड़ भी तो जीव नहीं हो सकता तब जड़ और चेतन रहित जीव कौन होगा? तू अपने को जीव मानता है जीव समझ कर व्यवहार करता है। क्या तू चेतन नहीं है क्या तू अपने को जड़ मानता है? नहीं, तू चेतन ही है।

शिष्य—जैसा चेतन का वर्णन शास्त्र में किया है ऐसा चेतन मैं कहां हूँ। मैं चेतन हूँ परन्तु विकारी चेतन हूँ। विकारी चेतन मैं (जीव) हूँ ऐसा आप कहो तो बन सकता है, परन्तु मुझे जीव बतला कर परब्रह्म से मेरी एकता करते हो यह नहीं हो सकता। मैं विकारी चेतन और परब्रह्म व्यापक अविकारी चेतन स्वरूप है।

गुरु—मैं जैसा कहता हूँ ऐसा ही है तू अपने को विकारी चेतन स्वीकार करता है यह विकार तेरे अज्ञान से है। अज्ञान ही ने अविकारी में विकारित्व दिखलाया है। अज्ञान के विकारों को अज्ञान सहित हटा कर देखने से अविकारी चेतन परब्रह्म ही रहता है; वह ही तू है। तू विकारी चेतन और परब्रह्म अविकारी चेतन इस प्रकार दो चेतन नहीं है, चेतन एक ही है। विकारी नहीं है तो भी विकारी हो अज्ञान से इस प्रकार भान होता है जिसे तू अज्ञान में विकारी चेतन कहता है वह परब्रह्म से भिन्न नहीं है।

शिष्य—मैं विकारी दीखता हुआ भी विकारी नहीं हूँ तब तो मैं जीव भी न रहा। विकारी भाव से जीव की सिद्धि है, विकार नहीं तो फिर जीव कहां ? वेदान्त की कई प्रक्रियाओं में मैंने सुना है कि व्यष्टि अज्ञान के ऊपर चेतन के पड़े हुए आभास सहित जीव होता है, आभास विकारी चेतन है तब विकारी चेतन मैं क्यों नहीं ?

गुरु—इस प्रकार का कथन मुमुक्षुओं को अपने स्वरूप की तरफ जाने के लिये स्वस्वरूप का बोध कराने के हेतु है। जहां चिदाभास का कथन है वहां चिदाभास को मिथ्या कहा है और साक्षी सहित आभास युक्त व्यष्टि अज्ञान को जीव कहा है। उसमें से मिथ्या को हटा देने से सत्य स्वरूप ही शेष रहता है और अवच्छेदवाद में तो विकार वाले चिदाभास को माना ही नहीं है। अज्ञान में चेतन का अवच्छेदक चेतन अज्ञान के पदार्थ से माना है, इससे विकारी दीखता हुआ चेतन जीव है वह शुद्ध

परम चेतन से अभिन्न है। फिर तूने पूछा है परब्रह्म क्या है? इसका उत्तर भी यह है कि परब्रह्म तू ही है, परब्रह्म तुझसे कोई अन्य पदार्थ नहीं है। तू ही जीव है और तू ही परब्रह्म है इससे दोनों की एकता बनती है।



एक समृद्धि वाला राजा संग के दोष से मौज शौक में पड़ गया, उसने राज्य की व्यवस्था को देखना छोड़ दिया, प्रजा भी बहुत दुःखी हुई इस प्रकार जो देश समृद्धि वाला था वह कुछ वर्ष में कंगाल बन गया। राज्य की दुर्दशा देख कर पास के राजा ने उस पर चढ़ाई की और राज्य को स्वाधीन किया। वह राजा वहां से जंगल में भाग चला। उसके पास निर्वाह का कुछ भी साधन नहीं था इससे अत्यन्त दुःख भोगता हुआ एक देश से दूसरे देश में भटकता रहा, कहीं कुछ मिल जाय तो खा लेता था अथवा अत्यन्त क्षुधा से पीड़ित होकर भीख मांग कर भी खा लेता था। उसका मामा एक राज्य का राजा था उसके पास जाकर उसने आश्रय लेना चाहा। वह वहां गया, वहां भी उसकी दरिद्रता ने उसे टिकने न दिया, किसी ने सत्कार न किया, वहां से वह निराश होकर चला और एक देवालय में जाकर विश्राम लिया। वहां के पुजारी को उस कंगाल के ऊपर दया आई। उसने उसको एक संदूक देकर कहा—इस संदूक से तेरा सब व्यवहार चलेगा। कंगाल संदूक को लेकर जंगल में चला गया। उसके पास दो कपड़े, एक लुटिया और एक फटा कम्बल था वह उसने संदूक में रक्खे फिर भी संदूक में बहुत जगह रह गई। यह देखकर

वह भी उसी में जा बैठा और ढक्कन को बन्द करके बोला—मुझे आसमान की तरफ उड़ा लेजा, संदूक आसमान में उड़ा। वह जिस संदूक में बैठा था उसमें दो छिद्र थे। उसके द्वारा वह बाहर देखा करता था। जिस प्रकार वह संदूक को कहे इस प्रकार संदूक चलता था, ठहरता था और जहां कहे वहां ले जाता था। वह कंगाल संदूक मिलने से अपने को सुखी मानने लगा।

वह जहां जाता था वहां सब लोग उसे देखने को पहुँचते थे। उसकी और संदूक की चर्चा किया करते थे। जब से उसे संदूक मिला है तब से लोग उसे संदूक वाला मनुष्य कहा करते थे और उस संदूक के सहारे भटका करता था। जब वह टूट जाता था तब मरम्मत कर लेता था जब अधिक टूट जाता था तब तोड़ कर नया बना लेता था। वह समृद्धि वाला राजा और संदूक वाला मनुष्य दोनों ही है क्योंकि पुरुष एक ही है। जीव को सन्दूक वाला पुरुष समझ, वह सन्दूक की उपाधि से संदूक वाला है और राज्य की उपाधि से राजा था। राजा में और सन्दूक वाले मनुष्य में मनुष्यत्व एक ही है; इसी प्रकार तू ही जीव है और तू ही परब्रह्म है।

परब्रह्म अद्वैत तत्त्व स्वरूप सब स्थान में परिपूर्ण है वृद्धि ह्रास से रहित है। अज्ञान से उसमें अनेक प्रकार की रचना का दीखना संसार है और उस रचना में वह ही परब्रह्म जीव रूपसे चेष्टा करता है इसीसे जीव ही परब्रह्म है। जैसे कोई लड़का जिसका नाम जीवाराम है वह विवाह करने को जाता है तब वह

दुलहा कहलाता है, विवाह के प्रसंग की उपाधि से वह दुलहा है वस्तुतः वह जीवाराम ही है; इस प्रकार अज्ञान की चेष्टा करने वाले परब्रह्म का नाम ही जीव है, वास्तविक वह परब्रह्म ही है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

पदार्थमेव जानामि
नाद्यापि भगवन् स्फुटम्।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं
प्रतिपद्ये कथं वद ॥६॥

अर्थ—(शिष्य)—हे भगवन्! आपके कहने से मैं पदार्थ को जानता हूँ परन्तु स्पष्ट नहीं जानता, तब मैं ब्रह्म स्वरूप हूं इसको किस प्रकार जानूं ? इससे महावाक्य के अर्थ को भली प्रकार कथन करके समझाइये।

## विवेचन।

तू जीव है, तू ब्रह्म है ऐसा एक साथ गुरुने कथन किया इससे अनेक जन्मोंसे भटकते हुए अज्ञानी जीव को यह कथन पहाड़ के समान भारी मालूम होता है, परन्तु अधिकारी के लक्षणों से युक्त शिष्य होने से असंभव दीखता हुआ कथन असंभव ही होगा इस प्रकार मानता नहीं है। अपनी समझने की बुद्धि की न्यूनता समझ कर शिष्य गुरु को फिर से स्पष्ट विवेचन करके समझाने के लिये प्रार्थना करता है। शिष्य की योग्यता पूर्ण होगी

तो इतने कथन से समझ जायगा ऐसा समझ कर गुरु ने सामान्यता से जीव और ब्रह्म उसे बताकर एकता की थी। जो शिष्य इतने से नहीं समझेगा तब प्रश्न करने से इसकी योग्यता का पता लग जायगा तब मैं विवेचन करके समझाऊंगा ऐसा गुरु का भाव था।

शिष्य का भाव यह है कि आपने मुझे जीव कहा उसे मैं सामान्यता से ही समझा हूँ स्पष्ट रूप से जीव को समझा नहीं हूँ। आपने चेतन जो उपाधि सहित है उसे जीव कहा है मैं शब्द से जानता हूँ कि ऐसा जीव मैं हूँ परन्तु जीव रूप पदार्थ यानी जो वस्तु है उसे यह जीव है इस प्रकार अपरोक्ष रूप से जानता नहीं हूँ इस प्रकार परब्रह्म को जो शुद्ध व्यापक अखंड चेतन कथन किया उसे भी शुद्ध व्यापक चेतन है वह परब्रह्म है ऐसे जानता हूँ, परन्तु कौन चेतन परब्रह्म किस प्रकार अखंड है कैसे व्यापक है उसे स्पष्ट नहीं जानता, यानी यह परब्रह्म है ऐसा उसका अपरोक्ष ज्ञान हुआ नहीं है। जब तक पदार्थ का अपरोक्ष बोध नहीं होता तब तक वाक्यार्थ का मेल नहीं होता। आपने तत्त्वमसि करके मुझे परब्रह्म कहा इससे मैंने अपने को ब्रह्मास्मि समझा परन्तु यह समझना शब्द में ही है पदार्थ का बोध पदार्थ में होकर वाक्यार्थ की संगति लगती नहीं है इसी से आप अधिक परिश्रम लेकर मुझे वाक्यार्थ स्पष्ट अनुभव में आ जाय इस प्रकार पदार्थ को समझाइये।

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होने से सामान्यता से किये हुए कथन से बोध नहीं होता इसीसे शिष्य को सूक्ष्म

बुद्धि से समझ कर ऊहापोह करके निश्चय करना चाहिये। बोध को दृढ़ करने के हेतु शिष्य गुरु से बारम्बार पूछता है तब गुरु जिस प्रकार शिष्य समझ सके इस प्रकार उत्तर देकर समाधान करते हैं और जब तक शिष्य को दृढ़ बोध न हो तब तक अनेक प्रकार की युक्ति से समझाते रहते हैं, समझाने में सद्गुरु खिन्न नहीं होते।

सत्यमाह भवानत्र
विज्ञानं नैव विद्यते।
हेतुः पदार्थबोधो हि
वाक्यार्थावगतेरिह ॥१०॥

अर्थ—(गुरु)—तूने सत्य कहा है महावाक्य में पदार्थ का ज्ञान ही वाक्यार्थ ज्ञान का साधन है, इसलिये तेरा कहना यथार्थ है, दोष युक्त नहीं है।

## विवेचन।

गुरु शिष्य के प्रश्न से प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार के प्रश्न से शिष्य की बुद्धि तीव्र है ऐसा गुरु समझ गये और कहने लगे कि हे शिष्य, तूने जो शंका की है वह ठीक है, जब तक पदार्थ का बोध नहीं होता तब तक उसके वाक्यार्थ का बोध नहीं होता; पदार्थ ज्ञान ही वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु है। जैसे कारण विना कार्य की सिद्धि नहीं होती इसी प्रकार पदार्थ ज्ञान के बिना वाक्यार्थ ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। तत्त्वमसि

महावाक्य में दो पदार्थ हैं, तत् और त्वं। इन दोनों पदार्थों के ज्ञान के लिये सद्गुरु सत्रह श्लोक से आगे निरूपण करके समझाते हैं।

पदार्थ और शब्द का आपस में सम्बन्ध है, एक का ठीक बोध होने से दूसरे का बोध होजाता है। शब्द की शक्ति पदार्थ के ज्ञान का हेतु है और पदार्थ ज्ञान का वाच्य शब्द है। अमुक शब्द अमुक पदार्थ के कथन में उपयोगी होता है ऐसा जानना शब्द ज्ञान है और शब्द के उच्चार से पदार्थ का भान हो यह अर्थ ज्ञान यानी पदार्थ का ज्ञान है। जिस समुदाय में शब्द का जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध बांध रखा है उस समुदाय में ही शब्द से पदार्थ और पदार्थ से शब्द का बोध होता है। जहां ऐसा सम्बन्ध निश्चित नहीं हुआ है वहां पदार्थ से शब्द का और शब्द से पदार्थ का बोध नहीं होता। जैसे अज्ञात भाषा के शब्द से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता।

शब्द क्या होता है और पदार्थ क्या होता है, इन दोनों का आपस में क्या सम्बन्ध है? यह जानकर ही शिष्य प्रश्न करता है यह गुरु की प्रसन्नता का हेतु है। जब विद्वान् शिष्य सूक्ष्म बुद्धि से प्रश्न करता है तब सद्गुरु शिष्य की योग्यता से प्रसन्न होकर विस्तार सहित महावाक्य का विवेचन करना आरम्भ करते हैं। शिष्य के सूक्ष्म प्रश्न से सद्गुरु का उत्साह बढ़ता है। जो सुनने वाला सुनकर सुनने का सत्कार करके ग्रहण करता है ऐसे का सुनना ही यथार्थ श्रवण है और श्रवण करके श्रवण किया हुआ तत्त्व का ग्रहण न हो तो श्रवण मिथ्या ही है।

अन्तःकरणत्तद्वृत्ति
साक्षी चैतन्य विग्रहः ।
आनन्द रूपः सत्यः सन्
किं नाऽऽत्मानं प्रपद्यसे ॥११॥

अर्थ—तू अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का साक्षी है, चैतन्य स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है और सब अवस्थाओं में बाध रहित सत्य है फिर भी तू अपने स्वरूप को क्यों नहीं जानता ?

## विवेचन ।

जीव रूप पदार्थ को प्रथम समझाते हैं, जीव रूप जो तू है सबका साक्षी है। तू जितना बोध करता है वह सब अन्तःकरण से करता है और सूक्ष्मता से देखा जाय तो भी अन्तःकरण को छोड़कर अपने व्यक्तित्व को और कोई स्थान में देख नहीं सकता सब व्यवहार अन्तःकरण से ही होता है; अन्तःकरण ही पृथक् व्यवहार का हेतु होने से उसे तू जीव मानता है वास्तव में वह जीवका स्वरूप नहीं है। अन्तःकरण में बुद्धि कर्ता भोक्ता वाली है और मन आदि वृत्तियां करण रूप हैं। कर्म को करने वाली बुद्धि कर्ता है और कार्य करने का साधन मन आदि है इससे अन्तःकरण और उसकी वृत्ति को कहा है कि उसका जो साक्षी है वह तू है। करण नाम कार्य करने के साधन का है ऐसे करण दो प्रकार के हैं बाहर के और आन्तर के। बाहर के करण इन्द्रियां

कही जाती हैं और आन्तर के करण मन आदि कहे जाते हैं। अज्ञान के कारण से बुद्धि जो आन्तर करण है वह किसका करण है यह न जानने से उसे ही कर्ता मानते हैं। वास्तविक बुद्धि और वृत्तियां को प्रकाश देने वाला, उसे तटस्थ रूप से देखने वाला ऐसा सबका साक्षी तू है।

शिष्य—अन्तःकरणरूप बुद्धि और उसके करण का ही साक्षी क्यों कहा? वह साक्षी चेतन तो सब किसी का साक्षी है। स्थावर जंगम स्थूल शरीर इन्द्रियां और प्राणादि सबका ही साक्षी क्यों नहीं कहा? जड़ पदार्थों का साक्षी भी इसके सिवाय और कोई नहीं है।

गुरु—साक्षी सबका है परन्तु तुझे तेरे चेतन को समझाना है। जड़ को तू अपना स्वरूप समझता नहीं है इससे उसका साक्षी कहने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। तू चेतन है और अन्तःकरण और उसकी वृत्तियां भी चेतन हैं इसीसे तू उनको अपना स्वरूप समझ ले ऐसी भ्रान्ति है उस भ्रान्ति को निवारण करना है इससे अन्तःकरण और वृत्तियों के साक्षी का कथन है। जब किसी पदार्थ का बोध कराना होता है तब उससे मिलती जुलती वस्तु को कह करके उसकी विशेषता आदि समझाते हुए जिसे समझाना है उसे समझाते हैं। जिस प्रकार प्रकाश वाले तारे के सहारे सूक्ष्म ऐसी अ ंधति को समझाया जाता है, ऐसे ही चेतन दीखती हुई बुद्धि वृत्ति के सहारे उनके आधार, उनमें प्रकाश देने वाले, उनके साक्षी का कथन करते हैं कि यह साक्षी

तू है। यद्यपि बुद्धि और उसकी वृत्तियों के समान साक्षी में चेतन नहीं है वह चेतन स्वरूप है तब भी कुछ साम्यता है।

शिष्य—अन्तःकरण और उसकी वृत्तियां तो पंच महाभूतों का अपंचीकृत कार्य है और मायिक तीनों गुणों से युक्त है; साक्षी इस प्रकार का नहीं है तब साम्यता कहां है ? क्या साक्ष्य के धर्म साक्षी में प्रवृत्त हो नहीं सकते ?

गुरु—साक्षी भूतात्मक और मायिक नहीं है तो भी भूतों का और गुणों का प्रकाशक है। साक्ष्य के धर्म साक्षी में होने ही चाहिये यह नियम नहीं है साक्षी कहने से भी वह भले बुरे कार्य की भिन्न स्मृति रखने वाला साक्षी नहीं है; केवल प्रकाश-दाता होने से साक्षी कहा है। जैसे सूर्य सब जगत् को प्रकाशित करता है, उसके प्रकाश में सब का जीवन और व्यवहार है उसे जगत् का साक्षी कहा जाय, उसी प्रकार तू अन्तःकरण और उनकी वृत्तियों का साक्षी है। तुझे अन्तःकरण से समझना है इसी से उसका साक्षी कहा है। मैं कहता हूँ इस प्रकार तू ठीक ठीक समझ जायगा तब तू सब का ही साक्षी और प्रकाशक है ऐसा तुझे अनुभव होगा। तुझे अपने बोध में अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में हुआ अहं और मम भाव ही बाधा पहुँचाता है उसको हटाते हुए उनके आधार और प्रकाशक साक्षी रूप से तू अपने को समझ सकता है।

भिन्न भिन्न बोध का करने वाला साक्षी नहीं है ऐसा कथन करने से कोई उसे जड़ मान ले उसी के निषेधार्थ कथन करते हैं

कि वह चैतन्य स्वरूप है। केवल चैतन्य का ही जिसमें ग्रहण हो इस प्रकार का चैतन्य–साक्षी तू है। न्याय शास्त्र के कथन के समान जड़ होकर चैतन्य गुण वाला नहीं है। जैसे मिसरी में मिठास के सिवाय और कोई वस्तु नहीं होती, मिठास को उसमें से हटा लेने से मिसरी ही नहीं रहती; इसी प्रकार साक्षी चैतन्य स्वरूप है।

शिष्य—जब वह साक्षी भिन्न बोध का हेतु नहीं है तब चैतन्य क्यों माना जाय? जैसे जड़ पदार्थ बोध नहीं कर सकते वैसे वह भी बोध नहीं कर सकता। जड़ से उसमें विलक्षणता ही क्या है?

गुरु—भिन्न बोध मायिक पदार्थों के करने का होता है इस से मायिक करण से ही बोध हो सकता है। मायिक बोध करने वाले अहंकार और इन्द्रियां उस साक्षी का प्रकाश लेकर पदार्थ का बोध करने में समर्थ होते हैं, इसी से जो जड़ को चैतन्यता देकर बोध कराने का सामर्थ्य देता है उसे जड़ किस प्रकार कहा जाय। जो साक्षी जड़ हो तो दूसरों को चैतन्य युक्त न करे।

शिष्य—आपके कथन के अनुसार साक्षी को चैतन्य का हेतु माना जाय, जड़ न माना जाय तो भी उसमें आनन्द कहां है! जगत् में देखते हैं कि चेतन प्राणियों को आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उस साक्षी में आनन्द की प्रतीति नहीं होती आनन्द रहित ऐसा साक्षी किस काम का।

गुरु—तू जैसा कहता है इस प्रकार नहीं है। जैसे चैतन्य उसका स्वरूप है इसी प्रकार आनन्द भी उसीका स्वरूप है और चतन्य स्वरूप से आनन्द स्वरूप भिन्न भी नहीं है। जैसे सब पदार्थों का प्रकाश चैतन्य से होता है इसी प्रकार सब आनन्द उसमें से ही आये हुए हैं उस आनन्द स्वरूप के कणमात्र से देव दानवादि विषय और ऐश्वर्य में आनन्द वाले होते हैं वह आनन्द का खजाना है। ब्रह्मांड भर में जितना आनन्द, ज्ञान, अज्ञान और स्वरूप में है वह सब उसीका है, उसको छोड़कर और कोई आनन्द नहीं है, न कोई आनन्द देने वाला है। अज्ञान से बहुत समय पर दुःख का भान होता है, आनन्द का भान नहीं होता वह भी आवरण विक्षेप दोष से दुःखाकार वृत्ति से ऐसा होता है आनन्द स्वरूप के आनन्द में कभी न्यूनाधिकता नहीं है वह कभी हो और कभी न हो इस प्रकार का आनन्द नहीं है और विषयादि में प्रतिबिम्बित हुआ आनन्द ऐसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार चैतन्य और आनंद स्वरूप के साथ तू सत्य स्वरूप भी है। विकारी भावों के विकार का आधार और प्रकाशक होने से सत्यत्व का भी लोप नहीं होता। तू अबाधित सत्य है। जिसका कभी भी किसी प्रकार देश काल और वस्तु के संबंध से बाध न हो उसे अबाधित कहते हैं, जो अबाधित होता है वह ही वास्तविक सत्य होता है। शरीर की तीन अवस्था जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति हैं। जगत् में स्थूल शरीर के भान सहित इन्द्रियों और प्राण द्वारा चेष्टा होती रहती है वह जाग्रत अवस्था है। यहां

की सब चेष्टा उत्पत्ति नाश वाली और विकारी है इन सबका आधार उन समुदाय में रहा हुआ तू विकार रहित है तेरा कभी नाश नहीं होता इसीसे तू सत्य स्वरूप है। स्थूल शरीर, जाग्रत अवस्था और उनकी क्रियाओं का स्वप्नावस्था में बाध होता है; उस अवस्था में सूक्ष्म अपंचीकृत शरीर है, वहां स्थूल-पंचीकृत स्थूल शरीर का अनुसंधान छूट जाता है और वहां की सृष्टि और चेष्टा सब स्वप्नमय है, जाग्रत अवस्था से उसका सच्चा सम्बन्ध नहीं है ऐसी सब विलक्षणता होते हुए भी जो तू विकार रहित सत्य स्वरूप जाग्रत में है वही स्वप्न में होता है, तू स्वप्न के साथ विकारी नहीं होता। तू न स्वप्न के साथ उत्पन्न होता है न निवृत्ति में निवृत्त होता है। सुषुप्ति अवस्था में स्थूल सूक्ष्म और अन्तःकरण की स्थूल सूक्ष्म चेष्टाओं की वहां प्रतीति नहीं होती, वहां सबका अभाव ही होता है कि जो अन्य अवस्था में तू अपने को व्यक्तिरूप मानता था वहां व्यक्तित्व का भी अनुसंधान नहीं रहता, तो भी तू तो सत्य स्वरूप जाग्रत स्वप्नावस्था में था वैसा ही वहां विकार रहित है इसीसे ही सत्य स्वरूप है। सब कोई बदलने वाले हैं, उन सब बदलने वाले की सिद्धि कोई न बदलने वाले में ही हो सकती है इसीसे सब बदलने वाले का आधार सत्य स्वरूप तू है।

इस प्रकार सबका साक्षी, चैतन्य, आनंद और सत्य स्वरूप तू है ऐसा अपने स्वरूप को तू नहीं जानता ? सत् चित् और आनन्द जितना है वह सब तेरा आत्म स्वरूप है ऐसा प्रत्यक्ष है तब भी बड़ा आश्चर्य है कि तू अपने स्वरूप को नहीं जानता,

वह छिपा पदार्थ नहीं है हमेशा प्रकट है फिर भी तू जानता नहीं है।

शिष्य—आत्मा अद्वितीय है ऐसा सुना है और आप सब का साक्षी, सत् चित् और आनंद से तीन प्रकार का कथन करते हो यह अद्वितीय तीन प्रकार का कैसे हुआ ?

गुरु—सच्चिदानन्द करके तीन प्रकार से तुझे समझाया है इससे यह तीन प्रकार का है ऐसा मत समझ। जो सत् है वह ही चित् है और जो चित् है वह ही आनन्द है, जगत् के पदार्थों के साथ उसके भान होने में तीन भेद हैं, वस्तु स्वरूप में भेद नहीं है। सच्चिदानन्द सब अवस्था में एक सा भरा हुआ होकर भी मायिक पदार्थों में एक प्रकार से भान नहीं होता। जड़ पदार्थों में सत् की प्रतीति होती है, अन्तःकरण और वृत्तियों के साथ चेतन की प्रतीति होती है और एकाग्रता में आनंद की प्रतीति होती है। मायिक तीन प्रकार के पदार्थों में तीन प्रकार के भान होने से समझाने के समय में सच्चिदानन्द कहा है।

आत्म स्वरूप एक ही है तो भी अविद्या की दूरी से उसमें भेद प्रतीत होता है। उसके बहुत समीप में आनन्द सहित चेतन और सत् का भी भान होता है, वृत्ति आदि में सत् सहित चेतन का भान होता है और जगत् में जो जड़ पदार्थ कहे जाते हैं उनमें सत् का ही भान होता है। अज्ञानियों को इस प्रकार भान होता है तो भी ज्ञानी पुरुषों को सब स्थान में एक सा अखंडित सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव होता है।

सत्यानंद स्वरूपं धी
साक्षिणं बोध विग्रहम् ।
चिंतयात्मतया नित्यं
त्यक्त्वा देहादिगां धियम् ॥१२॥

अर्थ—देहादिक में आत्म बुद्धि को छोड़कर जो सत्य और आनन्द स्वरूप है जो बुद्धि का साक्षी है और ज्ञान स्वरूप है वह मैं हूँ इस प्रकार निरन्तर चिंतवन कर ।

## विवेचन ।

जीव जैसा चिंतवन करता है वैसा हो जाता है, वर्तमान जीव की स्थिति का कारण भी उसका पूर्व का चिंतवन है । व्यवहार में देखते हैं कि बच्चे को जिस प्रकार सिखाया जाता है बच्चा उसे सीख कर वैसः ही होता है अपने को वैसा ही मानता है और यह उसका मानना इतनी गहराई में पहुँच जाता है कि बेहोशी में भी वह निकलता है । जीव को अनात्म चिंतवनसे ही अनात्म भाव समान जीव के स्वरूप की प्राप्ति हुई है उसको हटाने के लिये आत्म चिंतवन की आवश्यकता है, अनात्म चिंतवन छोड़ कर आत्म चिंतवन करने लग जाय तो जीव अपने अज्ञान को त्याग करके शुद्ध स्वरूप जो आत्मा है उसीको प्राप्त हो जाय इस निमित्त आत्म चिंतवन कराते हैं ।

अज्ञान के कारण से जीव को अपना आत्म स्वरूप का बोध स्वाभाविक नहीं होता क्योंकि उसकी बुद्धि बहिर्मुख हो रही

है इसीसे स्थूल शरीर जो सब प्रकार के व्यवहार का करने वाला है उसे ही वह मैं हूँ इस प्रकार मानता है आत्मा को मैं न मान कर अनात्म देह को मैं मानने से देह के समान अनुभव और सुख दुःख होते हैं उसका नाम ही देहाध्यास है। यह देहाध्यास ही अज्ञान की जड़ है। देहाध्यास के पश्चात् अज्ञान की वृत्तियों से कर्म धर्म और गमनागमन की सिद्धि होती है इसीसे अज्ञान को निवृत्त करने की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष को प्रयत्न पूर्वक देहाध्यास को निवृत्त करना चाहिये। देह मैं हूँ ऐसी बुद्धि बन्धन का हेतु है अथवा देह में रहे हुए प्राण मन बुद्धि आदि को मैं मानना भी बन्धन का हेतु है और यह सब देहाध्यास ही कहे जाते हैं। स्थूल देह को अथवा सूक्ष्म देह को या उसमें रहे हुए किसी को मैं मानना देहाध्यास ही है इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था वाला कारण शरीर मैं हूँ, ऐसा मानना कारण शरीर का अध्यास है। ऐसे ही तीनों शरीर अथवा उसमें के किसी एक के साथ एकता करके मैं हूँ करके मानना देहाध्यास है। यह अज्ञान स्वरूप और विपरीत बुद्धि का कार्य होने से हटाने के योग्य है, देहाध्यास को निवृत्त किये विना समूल दुःखों की निवृत्ति नहीं होती।

जब तक जीव का भाव मैं रूप से आत्मा की तरफ न जाय तब तक देहाध्यास का पूर्ण निवृत्त होना भी नहीं बन सकता। फिर भी प्रयत्न से देहाध्यास को शिथिल कर सकते हैं इसी कारण आत्म भाव की बुद्धि को करने के लिये आत्मा के कुछ लक्षण दिखलाते हैं। जो त्रिकालाबाधित सत्य स्वरूप है, जो

आनन्द स्वरूप है जो बुद्धि का साक्षी और ज्ञान स्वरूप है वह 'मैं हूँ' ऐसी भावना करे और शरीरादि से 'मैं हूँ' इस भाव को हटावे।

जो हमेशा सत् ही रहता है कभी भी असत् नहीं होता उसे सत् स्वरूप कहते हैं, जो आनन्द ही आनन्द है जहां दुःख का लेश नहीं है, दुःख का विरुद्ध भाव वाला आनंद नहीं है अखंड आनंद है वह आनंद स्वरूप है, जो चैतन्य होकर सबका बोध कराने का समुद्र रूप है जो भिन्नता के बोध से रहित है वह बोध स्वरूप अथवा ज्ञान स्वरूप कहा जाता है और जो सबका प्रकाशक होने से बुद्धि आदि संपूर्ण अनात्मा का साक्षी है वह सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द ही मेरा आत्म स्वरूप है इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये।

बुद्धि, चैतन्य और सब कार्य करने वाली दीखती है इसीसे बुद्धि ही आत्मा हो ऐसा भ्रम होता है। उसीको हटाने के लिये बुद्धि को प्रकाश देने वाला बुद्धि का साक्षी करके आत्मा का कथन किया है। बुद्धि विकार वाली है आत्मा अविकारी है, बुद्धि जिसके प्रकाश से बोध करने के सामर्थ्य वाली होती है वह आत्मा है वह आत्मा मैं हूं इस प्रकार शरीर से लेकर बुद्धि पर्यंत के सब अध्यास को हटाकर आत्मा का भाव करके नित्य चिंतवन करना चाहिये। यद्यपि आत्म स्वरूप नित्य सिद्ध है उसे चिंतवन करके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु अनात्म भाव में 'मैं हूँ' इस भाव को हटाने के निमित्त चिंतवन की आवश्यकता है।

यह चिंतवन भी निरंतर करना चाहिये क्योंकि ,थोड़े समय के खंडित चिंतवन से अनात्म भाव की दृढ़ता निवृत्त नहीं होती; जब तक पूर्ण रूप से असंभावना और विपरीत भावना रहित दृढ़ आत्म साक्षात्कार न हो तब तक आत्म चिंतवन को करते रहना चाहिये। जैसे मैं जीव हूँ यह दृढ़ भाव है इसी प्रकार मैं अखंड चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ ऐसा भाव दृढ़ न हो तब तक चिंतवन किया करे।

शंका—चिंतवन मन से होता है, आत्मा में मन की गम नहीं है तब मन से किये हुए चिंतवन से आत्मा की प्राप्ति किस प्रकार होगी ?

समाधान—मन से अनात्म भाव हुआ है इसीसे इस अनात्म भाव को छोड़ना भी मन से ही होता है। अनात्म भाव को छोड़ने के निमित्त आत्म भाव का लक्ष करना है इससे यह मन से हो सकता है। मन आत्मा को पहुँच नहीं सकता परन्तु आत्मा के बोध में जो पदार्थ—भाव आड़ रूप बाधा पहुँचाने वाले हैं उसे हटाने का कार्य मन कर सकता है, मन अपने को अमन कर सकता है तब शेष रहा हुआ आत्मा है, इस प्रकार परदा रहित होने से स्वयम् सिद्ध का बोध हो सकता है। अनात्म भाव वास्तविक हुआ नहीं है इसीसे जिससे हुआ है ऐसा मन, काल्पनिक आत्म भाव करे इससे अनात्म में आत्म अध्यास से निवृत्त होकर काल्पनिक आत्म भाव भी निवृत्त हो जाता है तब शेष

आत्मा ही रहता है इस प्रकार होने से आत्म चिंतवन से आत्म
लाभ होता है।

शंका—शरीरादिक आत्मा नहीं है यह प्रथम सिद्ध हो जाय
तब आत्मा का चिंतवन करना बन सकता है। आत्मा को सत्
चित् और आनंद कहते हो तो यह शरीर भी ऐसा है तब शरीर
आत्मा क्यों नहीं? शरीर असत् नहीं है क्योंकि दीखता है सब
व्यवहार उसीसे होता है घूमता फिरता है इसीसे चेतन भी है
और अनेक प्रकार के सुख भोगता है इससे सुख—आनंद भी है।

समाधान—शरीर सत् चित् और आनंद स्वरूप नहीं है
आत्मा के सत् चित् और आनंद का भान अज्ञान से अज्ञानियों
को शरीर में होता है। शरीर और आत्मा में महान अंतर है दोनों
के लक्षणों में भिन्नता है इसको आगे के श्लोक में घट के
दृष्टांत से समझाते हैं।

रूपादिमान् यतः पिंडस्
ततोऽनात्मा घटादिवत्।
वियदादि महाभूत
विकारत्वाच्च कुंभवत् ॥१३॥

अर्थ—जैसे घट पंच महाभूतों का कार्य होने से आत्मा नहीं
है तैसे ही यह शरीर घट के समान रूपादि गुण वाला होने से
आत्मा नहीं है।

# विवेचन ।

मृत्तिका में से घट को कुम्हार बनाता है ऐसा सब मनुष्य जानते हैं इससे घट मृत्तिका का कार्य है और मृत्तिका घट का उपादान कारण है। जिस मृत्तिका से घट बनता है वह मृत्तिका पंचीकृत की हुई होने से पांचों तत्त्व से मिली हुई है, इससे आकाश आदि पंचभूत स्वरूप है; उसी का कार्य घट है। जगत् में जितने पदार्थ हैं सब पंचीकृत किये हुए पंच महाभूतों के कार्य हैं, परन्तु जिसमें जिस तत्त्व की अधिकता होती है सामान्यता से उस तत्त्व का कार्य कहा जाता है, इस प्रकार घट पृथिवी का कार्य है। पांचों भूतों की तन्मात्रा भी कार्य में अनुगत होती है इसीसे घट शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुणवान भी है और पांचों इन्द्रियों का विषय भी होता है।

आत्मा पंचभूतों का कार्य नहीं है, पंचभूतों में से आत्मा की उत्पत्ति नहीं है क्योंकि आत्मा उत्पत्ति नाश रहित है। जो उत्पत्ति नाश वाले होते हैं वे पंचभूतों का कार्य होते हैं और शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुण वाले भी होते हैं। आत्मा भूतों का कार्य न होने से शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुण वाला भी नहीं है और पांचों इन्द्रियों का विषय भी नहीं होता। इस प्रकार घट की और आत्मा की भिन्नता को दिखलाया; आत्मा आत्मा है और घट अनात्मा है। अब कहते हैं कि जिस प्रकार का घट है ऐसा ही शरीर है, शरीर और घट में अन्तर नहीं है। यह शरीर भी पंचभूतों का कार्य है, जो पंच महाभूतों के कार्य होते हैं वे सब

विकारी उत्पत्ति नाश वाले और अनात्म होते हैं स्थूल शरीर भी ऐसा ही है उसका उत्पत्ति नाश और विकार देखते हैं और शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुण युक्त इन्द्रियों का विषय होने से अनात्मा है शरीर आत्मा नहीं है।

शंका—घट जड़ होने से अनात्मा है ऐसा स्पष्ट मालूम होता है, घट के समान शरीर जड़ नहीं है तब शरीर अनात्मा कैसे? घट को कुंभार बनाता है ऐसा देखा जाता है, शरीर को कोई मनुष्य अथवा देवता बनाता हो ऐसा देखा नहीं जाता, उत्पत्ति नाश और विकार की कुछ समानता होने से घट के समान शरीर नहीं हो सकता ?

समाधान—घट और शरीर में भेद कुछ भी नहीं है। घटी यंत्र के ऊपर चढ़ा हुआ घट घूमता-क्रिया करता मालूम होता है; इसी प्रकार शरीर माया चक्र में चढ़ा हुआ जड़ होकर भी चैतन्य के समान और क्रिया वाला मालूम होता है, परन्तु वह जड़ ही है इससे दोनों की समानता है। शरीर माता पिता के रज वीर्य से बनता है यह सब जानते हैं।

शंका—घट जड़ है घटी यंत्र भी जड़ है परन्तु उसे घुमाने वाला चैतन्य होने से, चैतन्य की शक्ति से घटी यन्त्रका घट घूमता है, शरीर को घुमाने वाला कोई चैतन्य दीखता नहीं है इससे शरीर जड़ नहीं है चैतन्य है।

समाधान—घट के समान शरीर जड़ ही है चैतन्य नहीं है जैसे घट में घटी यन्त्र के घुमाने वाले की शक्ति से क्रिया दीखती

है; इसी प्रकार शरीर में भी चिदाभास के चैतन्य से क्रिया दीखती है। जब शरीर से चिदाभास का वियोग होता है तब शरीर मृतक-अचेतन प्रत्यक्ष मालूम होता है। जैसे गाड़ी चलती हुई मालूम देती है, परन्तु वह जड़ होने से स्वयम् चल नहीं सकती, बैल के चलने से ही गाड़ी चलती है; इसी प्रकार चिदाभास की चेतनता से शरीर चेतन होकर चेष्टा करता है।

शंका—फिर भी घट और शरीर की समानता नहीं है घटी यंत्र के ऊपर चढ़ा हुआ घट घूमता हुआ मालूम देता है परन्तु वह बढ़ता घटता नहीं है और शरीर तो बढ़ता घटता रहता है इसीसे शरीर जड़ नहीं चेतन है।

समाधान—शरीर अनात्मा ही है चेतन किसी प्रकार नहीं है, वह बढ़ता घटता है इसीसे चेतन नहीं हो सकता। जिसको लोग जड़ कहते हैं ऐसा पाषाण भी बढ़ता घटता है। जैसे दीवार के ऊपर एक पर एक ईंट चढ़ाने से बढ़ती है और ईंट निकालने से घटती है; इस प्रकार शरीर में पाचन शक्ति से शरीर बढ़ता है और पाचन शक्ति न्यून होने से शरीर क्षीण होता है वह घट के समान जड़ ही है, आत्मा नहीं है। जो पंच महाभूतों का कार्य होता है वह आत्मा नहीं होता, इससे शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा स्वतः सिद्ध है वह किसी का कार्य नहीं है और उसका भी कोई कार्य नहीं है वह कार्य कारण रहित ही है। शरीर कार्य है और पुत्रादिक का कारण भी होता है इससे कार्य कारण रहित आत्मा शरीर नहीं हो सकता।

अनात्म यदि पिंडोऽय-
मुक्त हेतु बलान्मतः ।
करामलकवत्साक्षा-
दात्मानं प्रतिपादय ॥१४॥

अर्थ—( शिष्य )—जो इस शरीर को हेतु के बल से अनात्मा कहते हो तो भले ऐसा ही हो परन्तु मुझे तो हाथ में आंवला के समान साक्षात् आत्म बोध हो इस प्रकार से प्रतिपादन करिये ।

## विवेचन ।

घट के समान पंच भूतात्मक होने से शरीर अनात्मा है इस अनुमान में चार वस्तु हैं, पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त । शरीर पक्ष है, अनात्मा साध्य है, हेतु पंच भूतात्मक है और घट दृष्टांत है । इस प्रकार हेतु के वल से शरीर को अनात्म सिद्ध हुआ देख कर शिष्य कहता है कि आप शरीर को अनात्म कहते हो और आपको वह सम्मत भी है तो भले ही शरीर वैसा ही हो, ऐसे शरीर के भाव को छोड़ देने से आत्म वोध किस प्रकार होगा ? शरीर में से आत्म भाव का हटा देना एक वस्तु है और आत्म बोध का होना दूसरी वस्तु है । अभाव से बोध ज्ञान किस प्रकार होगा ? मैं आत्मा का साक्षात् बोध चाहता हूँ, पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन विना साक्षात् बोध नहीं होता । जैसे मैं आंवले को हाथ में लेकर सब तरफ से देखकर यथार्थ बोध को कर लेता हूँ

इसी प्रकार आत्मा का बोध चाहता हूँ। एक वस्तु को दिखला कर कहना कि यह वस्तु को हटा देने से अमुक रहता है इस प्रकार अनुमान से जानना नहीं चाहता; आप कहो कि वस्तु को हटा देने के पश्चात् शेष रहा हुआ अनुमान नहीं है प्रत्यक्ष है तो इस शरीर को कोई भी शरीरधारी हटा नहीं सकता और जब शरीर हटता है तब बोध करने वाला नहीं होता। इससे शरीर को हटा कर शेष रहे हुए का बोध मैं कर नहीं सकता; आप कहो कि शरीर का केवल भाव ही हटाना है, शरीर को हटाना नहीं है तो शरीर के भाव हटाने से जो बोध होगा वह प्रत्यक्ष नहीं होगा, मैं प्रत्यक्ष बोध को चाहता हूँ यदि ऐसे प्रत्यक्ष बोध हो नहीं सकता है तो जिस युक्ति द्वारा प्रत्यक्ष बोध हो सकता हो उसके द्वारा प्रत्यक्ष बोध होने का उपदेश दीजिये।

घट-द्रष्टा घटाद्भिन्नः
सर्वथा न घटो यथा।
देह-द्रष्टा तथा देहो
नाहमित्यवधारय ॥१५॥

अर्थ—(गुरु)—जैसे घट को देखने वाला घट से भिन्न ही होता है, किसी प्रकार वह घट रूप नहीं होता; तैसे ही देह को देखने वाला ( आत्मा ) मैं देह से भिन्न हूँ किसी प्रकार से देह नहीं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन ।

गुरु कहते हैंकि लौकिक पदार्थका प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा होता है आत्मा अलौकिक और अपनास्वरूप होनेसे इंद्रियोंका अविषय है इसीसे इस का प्रत्यक्ष इन्द्रियसे नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष दर्शन करनेमें हेतुरूप अनेक युक्ति लगाई जाती हैं इस प्रकार युक्ति के सहारे प्रत्यक्ष हो सकता है। इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ में और आत्मा का प्रत्यक्ष होने में महान् अन्तर है जो इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष के समान आत्मा को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं वे इस प्रकार कभी भी आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। जो नित्य प्रत्यक्ष-अपरोक्ष है, भ्रान्ति करके जो परोक्ष हो रहा है उस भ्रान्ति को निवृत्त करके ही जो प्रत्यक्ष है उसका प्रत्यक्ष हो सकता है और अन्य पदार्थों का तो अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष करना होता है। पदार्थों का प्रत्यक्ष त्रिपुटी में होता है और आत्मा का प्रत्यक्ष त्रिपुटी का नाश करके होता है ऐसी विलक्षणता-भिन्नता होने से आत्मा के प्रत्यक्ष करने में अनेक युक्ति से निश्चय करके चिंतवन रूप साधन से मदद मिलती है।

अब मैं तुझे दूसरे प्रकार से मैं देह से भिन्न हूं इस प्रकार निश्चय सहित चिंतवन करना समझाता हूं। जो देखने की वस्तु होती है उस वस्तु से उसका देखने वाला अवश्य भिन्न होता है, जैसे घट एक वस्तु है और उसे देखने वाला तू है तू इस घट से भिन्न सिद्ध होता है। घट के समान तेरा शरीर है ऐसा प्रथम सिद्ध कर चुके हैं। शरीर तुझे दीखता है, तू शरीर को देखने

वाला है शरीर दृश्य है तू शरीर का द्रष्टा है इससे शरीर से तू भिन्न है। मैं जो आत्म स्वरूप हूँ सो देह से भिन्न हूँ देह में नहीं हूँ इस प्रकार का निश्चय कर।

और भी श्रवण कर, तू देह को मेरी है ऐसा कहता है। व्यवहार में जितने पदार्थ मेरे हैं ऐसा कहा जाता है वे पदार्थ कहने वाले से भिन्न ही होते हैं। मैं और मेरा में अन्तर है; स्वयम् को मैं कहते हैं और उसके स्वाधीन पदार्थ को मेरा करके कथन किया जाता है इससे मेरा करके कथन किया हुआ पदार्थ कभी मैं नहीं हो सकता इससे भी तू शरीर नहीं है। देहाध्यास को निवृत्त करने के लिये शरीर मैं नहीं हूँ ऐसा वारम्वार चिंतवन कर। इस प्रकार चिंतवन करने से देहाध्यास रूप अज्ञान क्षीण होगा। यह अज्ञान ही देही जो आत्मा है उसके ऊपर आवरण करने वाला है उस आवरण के हटने से देही निरावरण होगा।

एक साधु बहुत काल से तीर्थ यात्रा में घूमा करता था। जगन्नाथ की यात्रा के बाद वह बंगाल देश में जाना चाहता था। तब कई मनुष्यों के मुख से सुना कि बंगाल देश में जादू करने वाली स्त्रियां बहुत रहती हैं और जादू के बल से मनुष्य को तोता बना कर पिंजरे में बन्द कर रखती हैं। ऐसे वचन से उसे बहुत आश्चर्य होता रहा। एक समय वह विचार करने लगा कि यह कलियुग है जादू में ऐसा सामर्थ्य होना संभव नहीं है और यह सामर्थ्य अशुद्ध अन्तःकरण वाली डायनों में होना अशक्य

मालूम देता है। यदि किसी योगेश्वर में इस प्रकार का योग सामर्थ्य हो, तो हो सकता है। ऐसे योगेश्वर का भी इस काल में दर्शन होना कठिन है। इस प्रकार जादू वाली स्त्रियां और उनका जादू है या नहीं उसका प्रत्यक्ष तो वहीं जाकर ही होगा ऐसा विचार कर वह बंगाल देश में चला और खास करके जहां जादू करने वाली स्त्रियां रहती हैं ऐसा कामरू कमक्षा देश के सीमा पर पहुंच गया। उस देश में जाने के लिये बहुत से कच्चे दिल के मनुष्य डरा करते थे साधु को भी कई लोगों ने वहां न जाने की सलाह दी साधु दृढ़ हृदय का था इससे कभी किंचित् डरता हुआ कभी दृढ़ होकर डर को निकालता हुआ वहां तक पहुँच गया और एक जलाशय के पास पेड़ के नीचे कुछ देर आराम करने के लिये बैठ गया। चाहे कैसी भी कोई यौवन मद से छकी हुई सुन्दरी हो, कितने प्रकार से हाव भाव करके लुभाने वाली हो उसके मोह को किंचित् भी अन्तःकरण में प्रवेश न होने देने के निश्चय सहित वह था इसीसे किसी का जादू उसके ऊपर चलना संभव न था। जहां किंचित् भी अन्तःकरण शिथिल होता है वहां जादू के सूक्ष्म किरणों का प्रवेश हो जाता है। साधु निःशंक दृढ़ था। एक मनुष्य और एक स्त्री को उसने सामने से आते हुए देखा और पास के दूसरे पेड़ के नीचे दोनों बैठ गये। स्त्री साधु भेष में परदेशी मनुष्य को देख कर प्रसन्न हो रही थी और शोच रही थी की युक्ति करके उसको भी मैं अपने जाल में फँसा लूंगी। वह स्त्री बहुत सुन्दर थी और युवा अवस्था के आरंभ की आयु वाली और वस्त्राभूषण से सजी हुई थी। वह साधु को तिरछी

दृष्टि से नेत्र कटाक्ष मारती हुई देखने लगी। साधु तुरन्त चेत गया यह जादू करने वाली दीखती है मुझे फँसाना चाहती है ऐसा विचार करके और अपने निश्चय का स्मरण करते हुए उसने अपने मुख को घुमा दिया। उस स्त्री ने देखा कि यह पुरुष मेरे सामने देखता ही नहीं है तब वह मधुर स्वर से गाने लगी। मोह को पैदा करने वाले उसके गाने का साधु के ऊपर कोई प्रभाव न हुआ। साधु ने अपने दोनों कानों में अंगुलियां डालली उस स्त्री ने देखा कि मेरी किसी भी चेष्टा के ऊपर यह मनुष्य ध्यान नहीं देता है फिर उसने गाने के साथ नाचना भी आरम्भ कर दिया। जब उसने देखा कि मेरा कोई भी असर साधु पर नहीं होता है तब उसने अपने साथ आये हुए मनुष्य को साधु के पास भेजा। उस मनुष्य ने साधु के पास जाकर सुन्दरी ने साधु को लुभाने के जो जो वचन कहे थे सब कह सुनाये। मनुष्य के कहे हुए वचनों को साधु ने माना नहीं वह जादू करने वाली स्त्री को जान गया था उसने अपनी शुद्ध दृष्टि मनुष्य के ऊपर डाली और बोला "तू इस डायन के जाल में क्यों फंसा है?" मनुष्य ने कहा "मैं एक मुसाफिर हूँ यहां आते ही उसने मुझे मोह में पटक डाला है अब मुझे पिंजरे में तोता बना कर रखती है, आप मुझे देखते हो कि मैं तोता बन कर पिंजरे में वन्द हूँ।" साधु ने कहा "तू तोता कहां है? तू मनुष्य है मुझे प्रत्यक्ष मनुष्य दीख रहा है तू पिंजरे में बन्द भी नहीं है" मनुष्य बोला "महाराज आप मुझे भले मनुष्य कहो पर मैं तो तोता हो गया हूँ, आपके पास तोता रूप में आया हूँ और

पिंजरे में बन्द हूं मैं बाहर निकल नहीं सकता, यहां बहुत कष्ट पा रहा हूँ यहां से उड़ जाना चाहता हूं परन्तु अब मुझमें उड़ने की सामर्थ्य नहीं है।

सुन्दरी ने देखा कि साधु मेरी बात को मानता नहीं है और मेरे बनाये हुए गुलाम को बहका रहा है ऐसा विचार मनुष्य को अपने पास बुला लिया वह कांपता हुआ साधु के पास से हटकर सुन्दरी के पास आगया। स्त्री मनुष्य सहित अपनी दाल न गलती देखकर वहां से चल दी।

साधु ने विचारा यह मनुष्य है तो भी उसे 'तोता हो गया हूँ' ऐसा भ्रम हो गया है। लोग कहते हैं कि जादू करने वाली स्त्रियां तोता बना कर पिंजरे में बन्द कर रखती हैं ये सब बातें झूँठ हैं। मनुष्य की बुद्धि ही पलट जाती है वह मनुष्य ही रहते हुए अपने को तोता होकर पिंजरे में बन्द हुआ मानता है ऐसे मोहासक्त का यहां से मुक्त होना कठिन है।

अज्ञानी जीवका यह ही हाल है वास्तविक तत्त्व ही है, शरीर न होते हुए माया से शरीर की प्रतीति और बन्धन मालूम होता है और यह शरीर 'मैं हूँ' ऐसा समझ कर अनेक प्रकार के कष्ट उठाता रहता है यदि शरीर के भाव को हटा दे तो स्वस्वरूप का बोध करके कृतार्थ हो सकता है।

एवमिन्द्रिय दृङ् नाह-
मिन्द्रियाणीति निश्चिनु।

मनो बुद्धिस्तथा प्राणो
नाहमित्यवधारय ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रियां दृश्य होने से इन्द्रियां भी मैं नहीं हूँ; वैसे ही मन बुद्धि और प्राण नहीं हूं ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ ऐसा समझा कर अब सूक्ष्म शरीर भी मैं नहीं हूँ ऐसा समझाते हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म है और जिस प्रकार स्थूल शरीर देखने में आता है ऐसा सूक्ष्म शरीर स्थूल रूप से देखने का विषय नहीं है तो भी पंच भूतात्मक होने से दृश्य ही है। सूक्ष्म शरीर अथवा उसमें रहीं हुई इंद्रियां मैं हूँ ऐसी भ्रांति होती है उसको भी निवृत्त करना चाहिये। बहुत मोटी बुद्धि वाले पुरुष स्थूल शरीर को मैं कहते हैं-मानते हैं; और अपने को चतुर सूक्ष्म बुद्धि वाले मानने वाले चैतन्य के समान दीखती इन्द्रियों को मैं मान लेते हैं परन्तु इंद्रियां किसी प्रकार मैं नहीं हैं। पांचों कर्मेन्द्रिय तो क्रिया वाली होने से जड़ हैंऔर ज्ञानेन्द्रिय में ज्ञान करने की सामर्थ्य होने से चेतन हों ऐसी भ्रांति हो सकती है। मेरी दृष्टि मन्द है, मेरी दृष्टि सूक्ष्म है आदि इंद्रिय और उसके बोध को मैं करता हूँ इससे मैं उसे जानने वाला हूँ और यह जानने का विषय है; जानने का विषय होने से वह दृश्य है और मैं जानने वाला उसका द्रष्टा हूं इससे निश्चय होता है कि इन्द्रियां मैं नहीं हूँ, इन्द्रियां मेरी हैं, मैं इंद्रियों

से काम लेता हूँ, मैं इन्द्रियों का मालिक हूं इससे मैं उनसे विलक्षण हूँ।

शंका--मैं देखता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं खाता हूं ऐसा कहते हैं इससे देखने वाला, सूँघने वाला और खाने वाला मैं ही होता हूँ। नेत्रादि इंद्रियों से भिन्न मैं किस प्रकार हूँ ? मेरी आंख देखती है, मेरी नाक सूँघती है, मेरा मुख खाता है इस प्रकार कहना ठीक नहीं है।

समाधान--तूने जैसा कथन किया है वह अज्ञान से होता है, जिसे इंद्रियों से अपनी भिन्नता का ज्ञान नहीं है वे सामान्यता से तेरे कहने के अनुसार मानते हैं ऐसा कहने से भी इन्द्रियां आत्मा हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता। इन्द्रियां भिन्न हैं इस प्रकार भी कथन होता है जैसे किसी की आंख दुःखती है तब वह ऐसा कहता है कि मेरी आंख दुःखती है, मैं दुःखता हूँ ऐसा नहीं कहता। नाक से दुर्गंध जानी नहीं जाती, मुख कडुआ हुआ है आदि कहता है। इन्द्रियां करण हैं, करण कार्य करने के औजार को कहते हैं करण कर्त्ता या द्रष्टा नहीं हो सकता वसूला करण ही रहता है, बसूला चलाने वाला बढ़ई वसूला नहीं है इस प्रकार इन्द्रियां करण जड़ और अनात्म होने से आत्मा कभी भी नहीं हैं न हो सकती हैं।

करण रूप से इन्द्रियां दो प्रकार की हैं बाह्य करण और आन्तर करण रूप। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका हैं

वे बाहर से कार्य करने वाली होने से बाह्य करण हैं और अन्तः-करण आन्तर इन्द्रिय है, वह चार वृत्ति से युक्त यानी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप है। मन संकल्प विकल्प स्वरूप है, संकल्प विकल्प जो करता है वह मन है, इससे मन मैं नहीं हूँ। निश्चयात्मक बुद्धि है, जो निश्चय करने वाली वृत्ति है वह बुद्धि कहलाती है इससे बुद्धि मैं नहीं हूँ। अनेक भावाभाव और पदार्थ का चिंतवन करने वाली वृत्ति चित्त कहलाती है इससे चित्त भी मैं नहीं हूँ और शरीरादिक के साथ में मैं हूँ ऐसे अहं-कार को करने वाला अहंकार है वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध सब को सत्ता स्फूर्ति देने वाला और सब का साक्षी हूं ये सब दोनों आन्तर बाह्य करण और उनके विषय सब दृश्य हैं मैं सबसे विलक्षण सब का साक्षी हूं।

शंका—मन बुद्धि आदि भी आन्तर इन्द्रियां हैं और विषय उनके दृश्य हैं। वे द्रष्टा हैं तब उनको आप दृश्य क्यों कहते हो? विषय जड़ है और उसे ग्रहण करने वाली इन्द्रियां चेतन हैं इससे जड़ विषय को देखने वाली ग्रहण करने वाली इन्द्रियां द्रष्टा हैं।

समाधान—मन बुद्धि आदि आन्तर और बाहर की इन्द्रियां विषयों की द्रष्टा हैं ऐसा तू अज्ञान से कहता है, देखने वाली होने से द्रष्टा हैं ऐसा भ्रान्ति से मालूम होता है उनमें दीखता हुआ द्रष्टापन आपेक्षिक है। जो द्रष्टा एक का द्रष्टा और अन्य का स्वयम् दृश्य बनता है वह आपेक्षिक द्रष्टा होता है. वास्तविक द्रष्टा

नहीं होता। मन इन्द्रियों का द्रष्टा होता है परन्तु वह बुद्धि का दृश्य बन जाता है, बुद्धि मन का द्रष्टा बनकर भी आत्मा का दृश्य बन जाती है इसीसे ऐसा द्रष्टा दृश्य ही होता है, वास्तविक द्रष्टा देश काल वस्तु आदि में भी अविच्छिन्न द्रष्टा ही रहता है वह कभी भी किसी का दृश्य नहीं होता उसके सिवाय सब द्रष्टा दृश्य ही हैं। मन बुद्धि चित्त और अहंकार सूक्ष्म शरीर रूप अविद्या का कार्य होने से दृश्य ही हैं।

श्वासोश्वास की क्रिया रूप प्राण भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह स्वयम् जड़ है अपने और दूसरों का ज्ञान उसे नहीं है वह वायु का विकार रूप है पंचभूत के रजोगुण अंश से उसकी उत्पत्ति है इससे अनात्मा है। इस प्रकार हे शिष्य, प्राण भी मैं नहीं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

शंका—एक समय जब इन्द्रियां अपने में बड़ा कौन है उसका निर्णय न होने से लड़ पड़ी थीं तब सब ने प्रजापति के पास जाकर निर्णय कराया था वहां सब से बड़ा प्राण ही हुआ है। प्राण ही से सब इन्द्रियां अपने अपने व्यवहार में समर्थ होती हैं, प्राण ही सबका सहाय भूत सबका आधार है ऐसा प्राण आत्मा क्यों नहीं ?

समाधान—इन्द्रियों को कार्य करने में प्राण से सामर्थ्य मिलता है, प्राण रहित इन्द्रियां अपने कार्य करने में असमर्थ होती हैं यह ठीक है, तो भी प्राण आत्मा नहीं है, प्राण समष्टि हिरण्यगर्भ का अविद्या से हुआ व्यष्टि स्वरूप है यह आत्मा किस

प्रकार हो ? आत्मा तो हिरण्यगर्भ का भी आत्मा है। पृथक् चेष्टा का हेतु प्राण आत्मा नहीं है यह अज्ञान से पृथक् दीखता हुआ एक वायु का टुकड़ा है इससे प्राण मैं नहीं हूँ ऐसा तू दृढ़ निश्चय कर।

संघातोऽपि तथा नाह-
मिति दृश्य विलक्षणम्।
द्रष्टारमनुमानेन
निपुणं संप्रधारय ॥१७॥

अर्थ—उसी प्रकार मैं दृश्य से विलक्षण होने से संघात भी नहीं हूँ इस प्रकार अनुमान से द्रष्टा का विवेक दृष्टि द्वारा निश्चय कर।

## विवेचन।

शिष्य कहता है कि आपने समझाया इस प्रकार देह इंद्रियां आदिक मैं आत्मा नहीं हूँ तो शरीर इंद्रिय और प्राणादिक का समुदाय रूप आत्मा मैं होऊंगा। तब गुरु कहते हैं कि संघात रूप भी तू आत्मा नहीं है, जैसे भिन्न २ इंद्रिय पंच भूतका कार्य हैं इस प्रकार सबका समुदाय भी पंच भूतका कार्य है, ये सब पंचभूत से भिन्न नहीं हैं। जैसे एक घड़ा मिट्टीका है ऐसे अनेक घड़ेका समुदाय भी मिट्टी है। समुदाय मिट्टी से भिन्न नहीं है; इसी प्रकार देह इन्द्रियां का समुदाय भी घट के समुदाय के समान समझ; ये सब अनात्म हैं अनात्मा कभी आत्मा नहीं हो सकता।

शंका—आप जैसा कहते हैं वैसा भिन्न २ पदार्थ के समान समुदाय नहीं होता एक ही प्रकार के अनेक पदार्थों के समुदाय में सामर्थ्य बढ़ता है, तब बढ़ा हुआ सामर्थ्य जिसमें है वह समुदाय आत्मा क्यों नहीं ? सन के तन्तु से कोई मनुष्य हाथी को बाँध नहीं सकता उसके समुदाय रूप रस्से से हाथी बाँधा जाता है। जैसे भिन्न २ औषधि में मादकता नहीं होती वे जब एकत्र होकर एक रूप में आती हैं तब मादक बन जाती हैं, इस प्रकार देह इन्द्रियां प्राणादि भिन्न हों तब अनात्म भले ही हों सबके समुदाय में चैतन्य होकर आत्मा हो सकता है।

समाधान—सन के तन्तु में जो ताकत है वह ही अनेक तन्तु के समुदाय रूप रस्सा में अधिकता को प्राप्त हो जाती है वह नयी उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार औषधियों में से खिंचे हुए शराब में जो मादकता है वह भी नयी उत्पन्न हुई नहीं है प्रथम ही औषधि में सूक्ष्म भाव से छिपी हुई थी वह समुदाय में विशेष क्रिया से प्रगट होती है। देह इन्द्रियां आदि अनात्म ही हैं उसमें आत्मत्व किंचित् भी नहीं है तब उनमें से आत्मा कैसे प्रगट होगा ? जो गौण है उसीका प्रगट होना सम्भव है आत्मा न्यूनाधिक से रहित अखंड है प्रथम थोड़ा हो और पीछे बढ़ जाय ऐसा नहीं है।

यहां यह अनुमान है कि देहादिक संघात अपने से भिन्न दृश्य होने से द्रष्टा नहीं है जो दृश्य होते हैं वे अपने से भिन्न अनात्म होते हैं जैसे घट; इस प्रकार संघात भी अनात्म है ऐसा विवेक दृष्टि से निश्चय कराते हैं।

शंका—देह, इन्द्रियां, प्राण सबका संघात दृश्य है अनात्मा है, यह तू नहीं है इस प्रकार आप समझाते हो और ऐसा निश्चय करने को कहते हो, परन्तु ये अनात्मा मैं नहीं हूँ ऐसा निश्चय करने से क्या होगा ? मुझे आत्मा को जानना है आप आत्मा का विवेचन न करते हुए अनात्मा को क्यों समझाते हो ?

समाधान—पारमार्थिक दशा में आत्म तत्त्व के सिवाय अन्य कुछ नहीं है तो भी व्यवहार में आत्म अनात्म का विवेक करने के लिये अनात्मा का समझना आवश्यक है। जब तक अनात्म में आत्म रूपता का भाव हटे नहीं तब तक आत्मा का बोध नहीं होता।

आत्म बोध में अनात्म में आत्म का भान होना ही आवरण है इससे अनात्मा को छोड़ने के लिये समझाया जाता है। विवेक से अनात्म भाव को हटाना और आत्म भाव को दृढ करना उपयोगी है इससे उनको समझने की आवश्यकता है। अनात्म को समझाया है अब आत्मा को समझाता हूं।

जैसे किसी के शरीर में एक फोड़ा हुआ और वह एक वैद्य से उसकी दवा करा रहा है, वैद्य ने युक्ति से फोड़े को पकाया और उसे फोड़कर पीव को निकाल कर फेंकने लगा। तब दरद वाला कहने लगा कि मैं तुमसे फोड़े को ठीक कराने के लिये दवा करा रहा हूँ, तुम तो ठीक न करते हुए मेरे शरीर के हिस्से को बाहर निकाल कर फेंकते हो। जैसा उसका कहना है ऐसा ही तेरा कहना है। अविद्या का पीव तुझमें पड़ गया है विवेक

द्वारा उसको पका कर वैराग्य से हटाये बिना आत्म तत्त्व के बोध रूप आरोग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार वैद्य पीव को निकाल कर अंगूर आने के लिये दवा देता है; इसी प्रकार मैं तुझे अनात्म भाव से छुटा कर आत्म तत्त्व का निश्चय कराता हूँ। प्रथम तू अनात्म पदार्थ अथवा उनका समुदाय मैं आत्मा नहीं हूँ ऐसा निश्चय कर।

देहेन्द्रियादयो भावा
हानादिव्यापृतिक्षमाः ।
यस्य सन्निधि मात्रेण
सोऽहमित्यवधारय ॥१८॥

अर्थ—जिसकी समीपता से देह इन्द्रिय आदि अपने अपने ग्रहण त्याग के व्यवहार में समर्थ होती हैं वह मैं हूँ ऐसा निश्चय कर।

## विवेचन ।

अनात्मा को समझा कर निश्चय कराया कि मैं ये नहीं हूँ। अब आत्मा का निश्चय कराते हैं; जो अनात्म पदार्थ होते हैं उनमें स्वयम् चेष्टा करने की सामर्थ्य नहीं होती और वह चेष्टा करते मालूम देते हैं तब उसमें चेष्टा का हेतु कोई अन्य ही होता है, यह हेतु कौन है। आत्मा कहो तो बन नहीं सकता। आत्मा अनात्मा में मिल कर चेष्टा करता है ऐसा कहो यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा वस्तु स्वरूप और अनात्मा अवस्तु इन दोनों का

मेल होना असम्भव है। ऐसा कहा जाय कि आत्मा की चेष्टा का भाव अज्ञान से इन्द्रियों आदि में होता है यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयम् अकर्त्ता है उसमें चेष्टा है नहीं तब चेष्टा किस प्रकार हो, तब चेष्टा करने वाला कौन है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि चेष्टा बुद्धि आदि की है। अहंकार बुद्धि और इन्द्रियां आदि जिसकी समीपता से अपने अपने विषयों को ग्रहण करने और छोड़ने को समर्थ होतीं हैं वह आत्मा है। आत्मा के समीप में रही हुई इन्द्रियां आदि चेष्टा करती हैं जड़ ही चेष्टा करती हैं। समीपता से जड़ चेतन के समान होकर चेष्टा करती हैं। जिसकी सन्निधि से बुद्धि आदि चेष्टा करती हैं वह आत्मा मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

शंका—आपने चेष्टा करने वाली बुद्धि को कहा परन्तु स्वरूप से जड़ बुद्धि चेष्टा किस प्रकार कर सकती है। आत्मा को अकर्त्ता और अविकारी कहते हो तब चेष्टा करने वाला कौन हुआ ?

समाधान--बुद्धि जड़ होने से चेष्टा नहीं कर सकती परन्तु आत्मा की सन्निधि से चैतन्य वाली होकर चेष्टा कर सकती है। वस्तुतः सब चेष्टा अज्ञान की है और अज्ञान में प्रतीत होती है। अज्ञान में ही बुद्धि और आत्मा की समीपता की सिद्धि है। सन्निधि आभास को प्राप्त हुई बुद्धि जड़ होते हुए भी चेष्टा करने में समर्थ होती है। अज्ञानियों को अज्ञान निवृत्त करने के लिये समझाने की आभासवाद की प्रक्रिया है। आत्मा सर्वथा अकर्त्ता

होने से बुद्धि से लेकर स्थूल शरीर पर्यंत सब व्यवहार अज्ञान हैं कर्त्ता और भोक्ता की सिद्धि अज्ञान में ही होती है।

शंका—आत्मा की सन्निधि बुद्धि इन्द्रियां आदि को न हो क्या वे चेष्टा नहीं कर सकतीं अपने अपने विषयों का ग्रह त्याग नहीं कर सकतीं ?

समाधान—आत्मा की सन्निधि न हो ऐसा काल बुद्धि इंद्रि आदि के लिये है नहीं। आत्मा सब का अपना आप है, आत्म से ही बुद्धि इन्द्रियों आदि की प्रवृत्ति होती है यह सब स्थान भरा हुआ होने से सब के समीप ही है।

शंका—आत्मा सब के ही समीप है तब बुद्धि और ज्ञाने न्द्रियां ही ज्ञान कार्य को करें और जो जड़ पदार्थ कहे जाते हैं चेष्टा क्यों नहीं करें, आत्मा उसके भी समीप में ही होता है।

समाधान—अपना स्वरूप आत्मा होने से सव के आन्तर है सब के समीप है परन्तु जहां २ सतोगुण की अधिकता होती है वहां २ निर्मलता के कारण से आत्मा के समीपता से चेष्टा की सिद्धि होती है। जड़ पदार्थ अज्ञान से घन आवृत्त है और तमो गुण की अधिकता से आत्मा के समीप होते हुए उसके प्रभाव से रहित होते हैं आत्मा का आभास जो चिदाभास कहा है वह उनके ऊपर स्पष्ट नहीं होता। व्यवहार के हेतु चिदाभास के अभाव से वे चेष्टा नहीं कर सकते।

आत्मा बोध स्वरूप है इसकी सन्निधि से यानी उसके चेतन के आभास से बुद्धि व्यवहारिक पदार्थों का पृथक् बोध करने की

सामर्थ्य वाली होती है। बोध स्वरूप में अविद्या की उपाधि से बुद्धि का आविर्भाव है। बुद्धि में से अविद्या के स्त्रीलिंग को निकाल दिया जाय तो बोध ही शेष रहता है।

शंका—आत्मा की सन्निधि में बुद्धि चेष्टा करती है ऐसा कहने से चेष्टा का विकार आत्मा में भी होगा ऐसा मालूम देता है; परन्तु श्रुतियां आत्मा को अविकारी कहती हैं तब यह विकार किस प्रकार समझना चाहिये ?

समाधान—यह विकार की सिद्धि अज्ञान में है, मैं तुझे दृष्टांत देकर समझाऊँगा तब तेरी समझ में आ जायगा। प्रथम तू निश्चय कर कि बुद्धि स्वयम् चेष्टा करने को असमर्थ है सब कार्यों की सिद्धि आत्मा की समीपता से बुद्धि इंद्रियां करती हैं इस प्रकार का तू निश्चय कर।

अनापन्न-विकारः स-
न्नयष्कांत वदेव यः।
बुद्धयादींश्चालयेत् प्रत्यक्
सोऽहमित्यवधारय ॥१६॥

अर्थ—जैसे चुंबक विकार को प्राप्त न हो कर लोहे को चलायमान करता है तैसे जो प्रत्यगात्मा निर्विकार रह कर बुद्धि आदि को चलाता है वह ही मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

आत्मा के समीप रह कर बुद्धि चेष्टा करती है इससे आत्मा में विकार की प्राप्ति नहीं होती उसे दृष्टांत देकर समझाते हैं कि

चुंबक पत्थर लोहे को चलित करता है अपनी तरफ खींचता है लोहे की कई प्रकार की चेष्टा चुंबक की सन्निधि में होती है इस प्रकार चेष्टा होने में चुंबक किसी प्रकार भी विकार को प्राप्त नहीं होता चुंबक की खींचने की शक्ति में न्यूनता नहीं होती और उसके वजन और रूप रंग में भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। उसके सहारे दूसरे की चेष्टा होने में भी वह निर्विकार रहता है; इसी प्रकार आत्मा को समझ। आत्मा की सन्निधि से बुद्धि चेष्टा करे अथवा न करे उसका किंचित् भी विकार आत्माको नहीं होता जो बुद्धि आदि को अपनी सन्निधि से अपने अपने कार्य में प्रेरित करता है वह आत्मा मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

आत्मा चिदाभास देते हुए भी विकार रहित है उसको दूसरे दृष्टान्त से समझाता हूं-जिस प्रकार सूर्य के धूप की सन्निधि में रखे हुए आतशी शीशे से रुई आदि पदार्थ जल जाते हैं सूर्य की धूप ही आतशी शीशे में रह कर आतशी शीशे को जलाने की सामर्थ्य वाला बनाती है तो भी अपने में विकार को प्राप्त नहीं होती। धूप जैसी की तैसी रहती है; इसी प्रकार आत्मा बुद्धि को चेष्टा कराने वाला होता है तो भी स्वयम् विकार रहित स्वस्वरूप में स्थित है उस आत्मा को तू अपना स्वरूप समझ।

एक रमणीक भूमि के मध्य में एक राजा का महालय था वहां के बगीचे में अनेक जाति के छोटे बड़े वृक्ष और तरुलता आदिक थे। अनेक वृक्षों के ऊपर एक भी पत्ता नहीं था और किसी वृक्ष पर फल भी नहीं लगते थे। अत्यंत शोभा देने वाले

वृक्ष भी जैसे कोई मनुष्य किसीसे लूटा गया हो इसके समान दीखते थे हरियाली किंचित् भी नहीं थी। भारी पवन चलता था तब पवन के थपेड़ों से सूखे वृक्षों में से सां सां आवाज हुआ करती थी माली लोग जल सिंचन आदि अधिक परिश्रम से करते थे तब भी वगीचा फलता फूलता नहीं था।

वहां का रहने वाला राजा वगीचे को रमणीक बनाने का बहुत प्रयत्न कर चुका था परन्तु फल नहीं होता था और कई विद्वानों के मुख से सुन चुका था कि जब तक बगीचा हरा नहीं होगा तब तक मुझे पुत्र प्राप्ति भी नहीं होगी इससे राजा अत्यन्त दुःखी था। आस पास की जमीन अत्यन्त सुन्दर और फल देती थी और राजमहल का उद्यान ही उजाड़ हो गया था; राजा ने इसका बहुत प्रकार से कारण ढूंढा परन्तु अभी तक कोई कारण समझ में आया नहीं था। राजा और राजा के उद्यान की इस प्रकार की स्थिति थी।

एक समय राजा के शहर में एक महान् ज्योतिषी आ पहुँचा राजा ने बहुत सत्कार करके उसको अपने पास ठहराया और बगीचे की दुर्दशा दिखला कर अपुत्र होने का कथन भी किया। ज्योतिषी शास्त्र में निपुण था और उस पर उसके इष्टदेव की पूर्ण प्रसन्नता थी इससे इसका कहा हुआ भूत भविष्य और वर्तमान सच्चा ही पड़ता था। राजा ने कई बातें पूछ कर निश्चय कर लिया कि ज्योतिषी जो कहता है सब ठीक ही है। बगीचा और पुत्र में अवश्य कोई सम्बन्ध है। जो बगीचा हरा हो जाय तो मुझे पुत्र भी अवश्य प्राप्त होगा ऐसा उसका निश्चय होने

से किसी प्रकार से बगीचे को हरा बनाने को चाहता था। इससे राजा ने ज्योतिषी से कहा:—'आप समर्थ हो, मुझ अपुत्र को पुत्र वाला बनाइये इस बगीचे के दोष की निवृत्ति होते ही मैं भी हरा भरा हो जाऊंगा। वगीचा हरा क्यों नहीं होता है उसका उपाय कीजिये।'

ज्योतिषी ने राजा के पास देवी का मंडप बना कर पूजन कराया और दूसरे दिन कहा कि "हे राजा! इस भूमि के ऊपर शाप है जब तक उसकी निवृत्ति नहीं होगी तब तक बगीचा हरा नहीं हो सकता और तेरी धारणा भी सत्य है कि वगीचा हरा होते ही तुझे पुत्र की भी प्राप्ति होगी। कुछ वर्ष पहिले इस महालय में राजा लोग नहीं रहते थे यहां जमादार और माली ही रहते थे राज कुटुम्ब के मनुष्य कभी आते रहते थे स्थिर कोई नहीं रहता था; एक समय एक जमादार ने माली को बहुत तंग किया उसके घर के कई मनुष्यों को मरवा डाला और माली को जेलखाने भिजवा दिया। माली बहुत सीधा था उसके मुख में से यह शब्द निकल गया कि "जब तक मेरे वंश का कोई मनुष्य इस बगीचे में भली प्रकार रखा नहीं जायगा तब तक उजाड़ रहेगा और उसमें रहने वाला भी अपुत्र होगा। मेरा वंशज आकर बगीचे में प्रेम से जल सींचने लगेगा उसी समय बगीचा हरा हो जायगा और महालय में रहने वाले के भी पुत्र होगा; वह माली जेलखाने में मर गया उसका एक पुत्र जो प्रथम से ही परदेश में चला गया था वह बचा हुआ है उसकी उमर बहुत हो गई है यहां से सात कोश की दूरी पर दरिद्रा नाम

के ग्राम में रहता है उसे लाकर बगीचे में रखिये। शोभा उसका नाम है।"

राजा के मनुष्यों ने उस शोभा नाम के मालीको ढूँढ़ निकाला उसका जो कुछ करजा था वह चुका कर अधिक तनख्वाह पर बगीचे में मालियों का जमादार करके नौकर रखा। कुछ ही रोज में बगीचा हरा हो गया और राजकुमार भी हुआ।

शोभा माली के आते ही उसकी सन्निधि में जिस प्रकार बगीचे के वृक्ष वृद्धि आदिक अपनी क्रिया करने लगे और उस माली में किसी प्रकार का विकार न हुआ ऐसे ही आत्मा की सत्ता से बुद्धि की चेष्टा होने में भी आत्मा को विकार नहीं होता। आत्मा की सत्ता से ही संपूर्ण पदार्थ अपने कार्य में और स्वभाव में स्थित हैं वह ही सबको सत्ता स्फूर्ति देने वाला है, सबका आधार है और आधेय के विकार से रहित है वह आत्मा तू है इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर।

अजडात्म वदाभाति
यत्सान्निध्याज्जडा अपि।
देहेन्द्रिय मनः प्राणाः
सोऽहमित्यवधारय ॥२०॥

अर्थ—देह इन्द्रिय मन और प्राण जिसकी समीपता से जड़ भी अजड़ के समान प्रकाशते हैं सो मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन ।

शंका—जैसे गाड़ी जड़ है और दीखती है, तैसे ही उससे भिन्न उसको चलाने वाला भी दीखता है इसी प्रकार देहादि का जड़पना और इनसे भिन्न आत्मा की चेतनता क्यों दीखती नहीं है ?

समाधान—देहादि में चेतनता दीखती है तब भी वह वास्तविक चेतन नहीं है जड़ ही है। सुषुप्ति, मूर्च्छा और मृत्युके समय में उसकी जड़ता जानी जाती है, देह के साथ आत्मा के मिथ्या तादात्म्य से देह चेतन के समान दीखती है। सुषुप्ति अवस्था में शरीर में श्वासोश्वास चलते हुए भी बोध नहीं है, मूर्च्छा में शरीर की कान्ति क्षीण होती है बोध रहित प्राण में विक्रिया होती है और मृत्यु में श्वासोश्वास रहित, बोध रहित और उष्णता रहित जड़ता का प्रत्यक्ष बोध होता है इसीसे वह जड़ ही है। शरीर के साथ रहे हुए चेतन में विकार की प्रतीति होती है, अवास्तविक चेतन में ही ऐसा विकार हो सकता है इसीसे चेतन वाले दीखते हैं तब भी जड़ ही हैं।

जैसा शरीर जड़ है वैसे ही मन इन्द्रिय और प्राण को भी समझना चाहिये क्योंकि वे सब विकारी हैं विकारी अनात्म जड़ ही होते हैं। अज्ञान से आत्मा के आभास करके चेतन दीखते हैं। आत्मा के सिवाय सब अनात्मा और जड़ ही हैं।

आत्मा अमूर्त स्वरूप होने से भौतिक दृष्टि का विषय नहीं होता। भौतिक पदार्थ जिसके प्रकाश से भासित होते हैं वह

चेतन आत्मा है इस प्रकार अनुमान से आत्मा को समझ सकते हैं। जड़ का चेतन मालूम होना और जो नित्य अबाधित प्रकट स्वरूप है उसका भान नहीं होना ऐसी दोनों प्रकार की विपरीतता स्वरूप के अबोध से है।

गाड़ी और गाड़ी को चलाने वाले बैल मनुष्यादि दोनों एक व्यवहारिक सत्ता के होने से दोनों मूर्त होने से देखने में आते हैं आत्मा और शरीर की सत्ता का भेद है इसीसे शरीर मूर्त रूप होने से व्यवहारिक दृष्टि का विषय होता है और आत्मा अमूर्त पारमार्थिक सत्ता का तत्त्व होने से व्यवहारिक दृष्टि का विषय नहीं होता तब भी उसके अस्तित्व को कोई हटा नहीं सकता। वह जड़ को अपने आभास से चेतन बनाता है, वह गुण रहित भी मायिक गुणों का प्रकाश करने वाला है, जो नहीं है उसकी है ऐसी प्रतीति उसीसे होती है ऐसे आत्मा की पृथक्ता मालूम न हो तो भी सब पृथक् पदार्थों का प्रकाशक है वह अखंडित होने से सब किसी का आत्मा है।

इन्द्रियां चेतन दीखती हुई भी जड़ ही हैं क्योंकि जब मन का सम्बन्ध इन्द्रियों से नहीं होता तब वे कार्य करने में असमर्थ होती हैं दूसरे की सत्ता बिना जो कार्य न कर सके वह जड़ ही होता है इस नियम से इन्द्रियां जड़ हैं इसीसे वे विकार वाली भी मालूम होती हैं। मन और प्राण भी अपने ही सामर्थ्य से कार्य करने वाले न होने से जड़ हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर चन्द्र प्रकाश देने वाला होता है ऐसा मन है जैसे सूर्य के

प्रकाश बिना चन्द्र प्रकाशित नहीं होता ऐसे चिदाभास के बिना मन भी प्रकाशित नहीं होता। प्राण की जड़ता तो सब किसी को मालूम ही है वह वायु का विकार मात्र है और चेतन की सत्ता पाकर भी अपने को और दूसरों को जानने के लिये समर्थ नहीं होता, गमनागमन रूप क्रिया करने के योग्य होता है यह सामर्थ्य भी अधिष्ठान की सत्ता से आभास युक्त में होता है इस प्रकार जड़ है। इन सब अनात्म के समुदाय जिसकी सन्निधि से चेतन के समान दीखते हुए अपने अपने व्यवहार करने में समर्थ होते हैं वह आत्मा मैं हूँ इस प्रकार का तू निश्चय कर। ऐसे निश्चय का नाम ज्ञान है और ऐसा निश्चय न होने में अनेक प्रकार के दुःख और जन्म मरण आदि है वह अज्ञान है। स्वस्वरूप का अनिश्चय अज्ञान है। जो स्वस्वरूप का 'मैं हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष निश्चय करता है वह स्वस्वरूप ही होता है।

जाग्रत अवस्था के समान स्वप्नावस्था में देह इन्द्रियां द्रष्टा नहीं होते क्योंकि वहां स्थूल शरीर और व्यवहार की चेष्टा का अभाव है। वहां जाग्रत की सृष्टि से भिन्न काल्पनिक सृष्टि है इससे स्थूल की अपेक्षा से तुच्छ ही है परन्तु मन तो वहां भी काल्पनिक विषयों का ग्रहण त्याग करता है, सुख दुःख का अनुभव करता है तब वह जड़ कैसे है? ऐसी शंका का उत्तर आगे के श्लोक में देते हैं।

अगमन्मे मनोऽन्यत्र
सांप्रतं च स्थिरीकृतम्।

एवं यो वेद धी वृत्तिं
सोऽहमित्यवधारय ॥२१॥

अर्थ—मेरा मन इतने काल तक अन्यत्र चला गया था अब उस स्मरण को छोड़कर मैंने मन को स्थिर किया है; इस प्रकार जो बुद्धि की वृत्ति को जानता है सो मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

मन और इन्द्रियों का व्यवहार जाग्रत और स्वप्न में समान ही है अवस्था के भेद से व्यवहार में भेद है। जाग्रत अवस्था के व्यवहार में तो स्थूल शरीर में रहे हुए इन्द्रिय के गोलक में रह कर इन्द्रियां कार्य करती हैं और स्वप्न में वे इन्द्रियां स्वप्न कल्पित होने से बाहर के स्थूल शरीर के गोलक से कार्य नहीं करती परंतु स्वप्न कल्पित शरीर के गोलक में रह कर कार्य करतीं हैं तो भी इंद्रिय के अपने अपने विषय का ग्रहण त्याग दोनों अवस्था में समान ही होता है दोनों के शरीर और गोलक में भेद है। जैसे स्वप्न की इन्द्रियां भिन्न हैं ऐसे मन भी स्वप्न कल्पित होने से जाग्रत से भिन्न ही है तो भी जाग्रत मन के ऊपर परदा करके है और वह वहां की बुद्धि का दृश्य है इसीसे अचेतन है द्रष्टा चेतन नहीं है।

शंका—मन ही सबको जानता है, तब मनको जानने वाला अन्य कौन है? कहो कि आत्मा मन को जानता है सो यह बन

नहीं सकता जैसे मन आत्मा को जान नहीं सकता, मनको आत्मा के जानने की गम नहीं है इसी प्रकार सत्ता का भेद होने से आत्मा मन को भी जान नहीं सकता। मन रूप मूर्त को अमूर्त रूप आत्मा कैसे जाने? जैसे तुच्छ ऐसें स्वप्न के पदार्थों को भी जाग्रत की इन्द्रियां जानने के लिये समर्थ नहीं होतीं। तब मन किसका दृश्य है?

समाधान—इन्द्रियों को मन जानता है, इन्द्रियों से कार्य कराता है इसी प्रकार बुद्धि मन को जानती है। बुद्धि की वृत्ति से "इतने समय तक मेरा मन अन्य वस्तु में चला गया था, अन्य वस्तु को चाहता था अब मैंने मन में से उस वस्तु और उसके भाव को हटा दिया है, अब मन को स्थिर किया है एकाग्र करके इष्ट चिन्तवन में लगाया है" इत्यादि जाना जाता है। इस प्रकार मन दृश्य है और बुद्धि उसकी आपेक्षिक द्रष्टा है। मन और बुद्धि दोनों अन्तःकरण की वृत्तियां हैं तो भी बुद्धि वृत्ति कर्त्ता भाव से युक्त होने से विज्ञानमय कोष में है और मनवृत्ति करण (कार्य करने का औजार) रूप होने से मनोमय में है। विज्ञानमय कोश का प्रकाश मनोमय कोश में आता है। इस प्रकार बुद्धि आपेक्षिक द्रष्टा और मन दृश्य है।

जीव अज्ञान में पड़ा हुआ होने से उसके कार्य करने के साधन रूप मन बुद्धि भी अज्ञान में है। जीव को आत्म बोध करने के निमित्त आत्मा को जानने की आवश्यकता है परन्तु मन इंद्रियों का आत्मा से अवस्था भेद होने से वे आत्मा को स्पष्ट रीति से

जान नहीं सकते तो भी मन बुद्धि का आधार और अपना स्वस्व-रूप आत्मा होने से मन बुद्धि के सहारे ज्ञान के लक्ष को पहुँचा कर मन बुद्धि को छोड़ कर आत्मा का अपरोक्ष बोध हो सकता है और आत्मा को तो तुच्छ मायिक संसार की प्रवृत्ति के हेतु मन बुद्धि जो अज्ञान की हैं उनको जानने की आवश्यकता ही नहीं है। और सब का आधार, सब को प्रकाश और सत्ता स्फूर्ति दाता होने से अवस्था भेद होते हुए भी आभास से युक्त जीव बुद्धि वृत्ति को भी जानने में समर्थ होता है। आभास के भाव से रहित शुद्धात्मा जो सब का सामान्य ज्ञाता है और अनेकता में रहा हुआ एकता रूप जो अस्तित्व है वह अखंड ब्रह्म मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

शंका—आपके कहने के अनुसार मन बुद्धि की वृत्ति होने से बुद्धि का दृश्य हो सकता है परन्तु बुद्धि जो अन्तःकरण रूप है, सब वृत्तियों का उपादान कारण है क्योंकि कर्ता भोक्ता के भाव से सब वृत्तियों का उत्थान होता है तब ऐसी बुद्धि किस प्रकार दृश्य है और किसका दृश्य है उसका द्रष्टा कौन है ? सब वृत्तियों के उपादान रूप बुद्धि में किस प्रकार दृश्यत्व है ?

आगे के श्लोक में इस शंका का समाधान करते हैं।

स्वप्न जागरिते सुप्तिं
भावाभावौ धियां तथा।

योवेत्त्यविक्रियः साक्षात्
सोऽहमित्यवधारय ॥२३॥

अर्थ—जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में बुद्धि के भाव अभाव और बुद्धि को जो जानता है वह बुद्धि का द्रष्टा निर्विकार चैतन्य स्वरूप आत्मा मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

समाधान—बुद्धि में अनेक प्रकार के विकार हुआ करते हैं इसे सब जानते हैं। जो विकार वाला हो वह अखंड द्रष्टा नहीं हो सकता जो अखंड द्रष्टा नहीं है और क्वचित् द्रष्टा दीखता है वह आपेक्षिक द्रष्टा होता है। जो आपेक्षिक द्रष्टा होता है वह अन्य का दृश्य भी होता है। बुद्धि ऐसी होने से दृश्य है। जाग्रत अवस्था में बुद्धि पदार्थों का भिन्नता सहित बोध करती है और पदार्थ न हो तो उसके अभाव का भी बोध करती है; इसी प्रकार स्वप्न में, स्वप्न पदार्थ में भी भावाभाव सहित बोध करती है जो बुद्धि जाग्रत में होती है वह स्वप्न में नहीं होती विकार को प्राप्त होती है और स्वप्न कल्पित बोध के योग्य होजाती है और सुषुप्ति अवस्था में दोनों अवस्था से रहित स्वयम् अभाव रूप होजाती है वहां बुद्धि की वृत्ति की पृथक्ता ही नहीं दीखती इस समय बुद्धि उसका कारण जो व्यष्टि अविद्या है उसमें लय हुई होती है। इस लय में बुद्धि का नाश नहीं है। जाग्रत और स्वप्न की वृत्तियों का न होना, बुद्धि की पृथक्ता का न होना ही अविद्या में दब जा

है, यह उसका नाश कहा है। परन्तु सुषुप्ति का दबाव हटते ही पूर्ववत् अपनी सब सामग्री सहित सूक्ष्म अथवा स्थूल जाग्रत अवस्था को प्राप्त होती है। ऐसी बदलने वाली बुद्धि को जो जानता है वह उसका द्रष्टा दृश्य से भिन्न होता है, इसीसे यह भी भिन्न है। जो बुद्धि का द्रष्टा अन्य कोई न हो तो बुद्धि है नहीं ऐसी सुषुप्ति अवस्था की बुद्धि के अभाव का बोध कौन करे? जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्था में रहने वाला हो वह ही बुद्धि के विकार को जान सकता है, स्थिर ही चलित का ज्ञाता होता है वह जीव है, यह जाग्रत, स्वप्न में बुद्धि के सद्भाव को और सुषुप्ति में बुद्धि के अभाव को जानता है; इससे यह बुद्धि का द्रष्टा है।

शंका—आत्मा को समझाने की आवश्यकता है और आत्मा को समझा भी रहे हो तब बीच में जीव को कहां से लाये? बुद्धि का द्रष्टा जीव को क्यों कहते हो क्या जीव आत्मा से भिन्न है?

समाधान—जीव ही आत्मा है, आत्मा और जीव भिन्न २ नहीं है। जब व्यष्टि अज्ञान से युक्त होता है तब आत्मा का नाम जीव है और जब शुद्ध का कथन करते हैं तब उसे आत्मा कहते हैं। बुद्धि का द्रष्टा जीव को इस कारण से कहा है कि द्रष्टा दृश्य की एक कक्षा होती है। बुद्धि मायिक है 'इससे इसका द्रष्टा माया से युक्त आत्मा जीव है; क्योंकि बुद्धि का सुषुप्ति में अभाव है परन्तु जीव का अभाव नहीं है इससे जीव ही बुद्धि के भेद का

द्रष्टा है। चिदाभास व्यष्टि अज्ञान में भी है इससे चिदाभास युक्त आत्मा, जीव बुद्धिका द्रष्टा के भाव से रहित, चिदाभास रहित, द्रष्टा स्वरूप निर्विकार अखंड चैतन्य स्वरूप साक्षात् मैं हूँ इस प्रकार का तू निश्चय कर।

घटावभासको दीपो
घटादन्यो यथेष्यते।
देहावभासको देही
तथाऽहं बोध विग्रहः ॥२३॥

अर्थ—जैसे घटका प्रकाश करने वाला दीपक घट से भिन्न देखा जाता है वैसे ही देह को प्रकाश करने वाला देही देह से भिन्न है वह बोध स्वरूप मैं हूं।

## विवेचन।

अचेतन और जड़ होने से देह अनात्म वस्तु है और आत्मा इससे विलक्षण चेतन स्वरूप है इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा आत्मा की भिन्नता दिखलाते हैं। घट के भीतर दीपक रखने से दीपक का प्रकाश घट में होता है, घट में पांच छेद हों तो वह प्रकाश छेद से बाहर भी पड़ता है। दीपक स्वयम् प्रकाश है और उसके प्रकाश से घट प्रकाशित होता है; इसी प्रकार शरीर को समझना। शरीर घट के समान है जैसे घट पंच भौतिक है वैसे देह भी पंच भौतिक है, घट जड़ है वैसे देह भी जड़ है घट में रहा हुआ

दीपक घटको प्रकाशता है वैसे देहमें रहा हुआ स्वयम् प्रकाश देही अपने प्रकाश द्वारा देह को प्रकाशता है। जैसे घट के छिद्रों से वाहर प्रकाश आता है वैसे देह में से इन्द्रियों द्वारा प्रकाश वाहर आता है। जैसे घट से दीपक भिन्न और विलक्षण है वैसे शरीर से देही-आत्मा भिन्न और विलक्षण है इस प्रकार विवेक करके आत्मा को समझा जाता है।

शंका--दीपक घट को प्रकाशता है यह समझ में आता है क्योंकि दीपक और घट दोनों ही व्यक्ति है और व्यक्त शरीर को अव्यक्त आत्मा किस प्रकार प्रकाश करे?

समाधान—आत्मा का स्वरूप-प्रकाश सर्वत्र अखंडित व्यापक है, वह जव देह को प्रकाशता है तब देही होकर विशेषता से प्रकाशता है, आभास से विशेष हुआ प्रकाश जल्दी समझ में आता है। जिसके आभास से देह प्रकाशित होता है ऐसा आत्मा अव्यक्त होकर भी आभास द्वारा देह को प्रकाशित करता है मायिक शरीर को प्रकाश करने के लिये मायाकृत भेदवाला चिदा-भास अव्यक्त नहीं है। जिस प्रकाश स्वरूप आत्मा के प्रकाश से देह प्रकाशित होता है ऐसा वोध स्वरूप आत्मा मैं हूँ। जीव भाव की निवृत्ति के लिये लक्ष पहुँचाते हुए आत्म भाव करना चाहिये।

आद्य शंकराचार्य ने जव मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया तब उसकी स्त्री सरस्वती ने कहा कि अभी आपने अर्धजय प्राप्त की है क्योंकि मंडन मिश्र की अर्धांग रूप मैं अभी परास्त नहीं हुई हूं, जब मुझको भी परास्त करोगे

तब आपकी पूर्ण जय होगी। शंकराचार्य ने सरस्वती को शास्त्रा-
करने की अनुमति दी तब एक दूसरे को जीतने की इच्छा वा-
दोनों ने सुन्दर वाक्यों द्वारा वाक्य युद्ध चालू किया। सतरह दि-
शास्त्रार्थ होता रहा, अन्त में सरस्वती हारने लगी तब उस-
विचार किया कि शंकर को जीतना कठिन है इसीसे मैं सर्व-
ज्ञता के अभिमान को तोड़ती हुई काम शास्त्र का प्रश्न कर-
जीत लूंगी।

जब सरस्वती ने काम शास्त्र का प्रश्न किया तब शंकराचा-
मन में विचारने लगे कि जो मैं प्रश्नों का उत्तर न दूंगा तो मेरी
सर्वज्ञता व्यर्थ होगी, जो मैं उत्तर दूंगा तो यति धर्म में बा-
आता है। मुझे योग बल से अज्ञात कुछ भी नहीं है। प्रगट कह-
लगे कि तेरे प्रश्नों के उत्तर के लिये मैं एक मास की मोहल-
चाहता हूँ, जब सरस्वती ने स्वीकार किया तब शिष्यों सहित वहां-
चलकर विचरने लगे।

अमरक नाम का राजा मृगया के परिश्रम से मूर्छित होक-
मृत्यु को प्राप्त हुआ था उसकी मृतक देह को पड़ा हुआ देखक-
शंकराचार्य ने अपने शिष्य पद्मपादाचार्य से कहा अमरक राजा-
मृतक शरीर में मैं योग बल से प्रवेश करता हूँ मेरे शरीर को पा-
के पहाड़ की गुफा में रखकर जब तक मैं उसमें फिर प्रवेश न क-
तब तक रक्षा करना। राजा के शरीर में प्रवेश करके थोड़े दि-
में ही मैं उसके पुत्र को राज्याभिषेक कर दूंगा और अपनी सर्व-
ज्ञता सिद्ध करने के हेतु मैं अमरक राजा की सुन्दर रानियों

काम शास्त्र के हाव भाव का अनुभव कर लूंगा बाद में अपने शरीर में प्रवेश कर जाऊंगा। ऐसा कहकर स्थूल देह में से निकल कर लिंग देह से अमरक राजा के मृतक शरीर में प्रवेश कर गये।

राजा के शरीर को बल प्राप्त हुआ, वह उठ बैठा देखकर राज कुटुम्ब सहित सब प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हुई। पुरोहित आदि ने शान्ति क्रिया की, राजा को हाथी पर बैठा कर नगर में ले आये और राजा, प्रजा का पालन करने लगा।

दो दिन पश्चात् प्रधानों ने विचार किया कि राजा मर कर जी उठने से प्रथम के समान नहीं रहा है, याचकों को दान देने में ययाती के समान और बोलने में बृहस्पति के समान और सब गुण सम्पन्न दीखता है इससे मालूम होता है कि किसी सिद्ध योगीश्वर ने राजा के मृतक देह में प्रवेश किया है और अब राज्य वैभव को भोग रहा है। यदि वह अपने पूर्व शरीर में चला जायगा तो हम लोग राजा रहित हो जायँगे इससे आस पास में कोई योगी का शरीर रखा हुआ हो तो उसे नष्ट कर देना ही अच्छा है। ऐसा विचार करके योगी के शरीर को नष्ट करने के लिये चारों दिशाओं में मनुष्यों को भेज दिये।

राजा के शरीर में रहे हुए शंकराचार्य ने राज पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और राज्य की देख भाल प्रधानों को सौंप कर वात्स्यायन-कामशास्त्र के अनुसार रानियों में रमण करके काम शास्त्र के अनुभव को प्राप्त किया और उस विषय के एक ग्रन्थ की रचना भी की।

शंकराचार्य को गये एक मास व्यतीत हो जाने से सब शिष्य घबराने लगे कि अभी तक गुरुदेव अपने शरीर में क्यों नहीं आये, तब पद्मपादाचार्य ने सबको धैर्य दिया और गवैया का वेष धारण करके अमरक राजा के अन्तःपुर में पहुँचे और गायन करते हुए शंकराचार्य को सचेत किया। शंकराचार्य ने गवैये को इशारे से समझा कर बिदा किया। शंकराचार्य ने योग दृष्टि से देखा तो मालूम हुआ कि प्रधानों के भेजे हुए मनुष्यों ने मेरे स्थूल शरीर को मेरे शिष्यों से जबरन छीन लिया है और अब जला देने की तैयारी कर रहे हैं। तुरन्त ही जिस प्रकार योग बल से अमरक के शरीर में प्रवेश किया था उसी प्रकार उसमें से निकल कर अपने शरीर में प्रवेश कर दिया। योगी के शरीर को सजीवन देख कर प्रधान के मनुष्य वहां से भाग गये और राजधानी में अमरक राजा मृतक हो गया।

शंकराचार्य अपने शिष्यों सहित माहिष्मती नगरी में गये और प्रशंसा प्राप्त की।

जैसे शंकराचार्य का शरीर और शंकराचार्य भिन्न थे, जैसे अमरक राजा का शरीर और अमरक राजा भिन्न थे, इसी प्रकार देह और आत्मा भिन्न हैं। शंकराचार्य के लिंग शरीर के निकलते ही स्थूल शरीर मृतक हुआ, ऐसे ही अमरक के निकलने से उसका शरीर मृतक हुआ। वह फिर शंकराचार्य के प्रवेश से चेतन हुआ और शंकराचार्य का पुनः अपने शरीर में आने से चेतन हुआ। इस दृष्टान्त से स्थूल शरीर जड़ है ऐसी

स्पष्ट प्रतीति होती है और शरीर से भिन्न चैतन्य भी सिद्ध होता है। यद्यपि विशेष चैतन्य शरीर के सहारे व्यष्टि अज्ञान से परिच्छेद को प्राप्त हुआ है इसीसे शुद्ध नहीं है तब भी उसी में रहा हुआ शुद्ध अखंडित चैतन्य मैं हूँ ऐसा निश्चय करना चाहिये यह ही आत्म ज्ञान है।

पुत्र वित्तादयो भावा
यस्य शेषतया प्रियाः।
द्रष्टा सर्व प्रिय तमः
सोऽहमित्यवधारय ॥२४॥

अर्थ—पुत्र धन आदि पदार्थ आत्मा का हितकर होने से प्रिय हैं, वह (द्रष्टा) आत्मा पुत्रादि सब पदार्थों से अधिक प्रिय है, वह मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

अज्ञान की अवस्था में जगत् और जगत् के पदार्थ हमको प्रिय लगते हैं क्योंकि वे हमको सुख देने वाले हैं, ऐसा हम मानते हैं। जहां सुख का भाव होता है वहां प्रियत्व होता है, जहां सुख का भाव नहीं होता वहां प्रियत्व नहीं होता। जगत् के अनेक पदार्थ हैं वे सब एक ही प्रकार से सब किसी को प्रिय अथवा अप्रिय नहीं हैं किसी में न्यून और किसी में अधिक प्रियत्व होता है और कोई अप्रिय होते हैं। एक पदार्थ में जो इस

समय प्रियता है वह आगे अधिक प्रिय हो जाय अथवा अप्रिय भी हो जाय। इसीसे यह भी मालूम होता है कि एक पदार्थ में एक समान प्रियता हमेशा नहीं रहती। जिस समय जो अनुकूल होता है वह प्रिय होता है, आत्मा के अनुकूल होने से पदार्थों में प्रियत्व मालूम होता है और जहां जिसमें आत्मा में अनुकूलता नहीं दीखती वहां प्रियत्व नहीं है।

एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में अधिक प्रियत्व है इस प्रकार प्रियत्व की भी कई कक्षा हैं, जब कोई विशेष कारण न हो तो सामान्य प्रियत्व से व्यवहार होता है और खास कारण में यह नियम नहीं रहता। उद्यम प्रिय है क्योंकि उद्यम से धन पैदा होता है धन प्रिय है क्योंकि धन से पांचों विषय का भोग इच्छानुसार हो सकता है, जगत् में प्रतिष्ठा भी धन से ही है। ऐसे धन से पुत्र अधिक प्रिय है क्योंकि जो कुछ यहां पैदा किया जाता है उसका उपयोग करने वाला अपने मरने के पश्चात् पुत्र ही होता है, जगत् के व्यवहार में पुत्र अपना प्रतिनिधि है इसीसे अधिक प्रिय है। पुत्र से अपना शरीर अधिक प्रिय है क्योंकि शरीर से अन्य पुत्र पैदा हो सकता है। शरीर की अपेक्षा से पुत्र दूर है। शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा से प्राण समीप होने से अधिक प्रिय है, क्योंकि एकाध अंग न हो तो भी जीवन रह सकता है और प्राण रहित जीवन ही नहीं रहता और सब से अधिक प्रिय आत्मा है, आत्मा के हेतु ही प्राण, शरीर, पुत्र, धनादि प्रिय होते हैं। जिसके कारण सब में प्रियत्व है ऐसा आत्मा सब से अधिक

प्रिय है। ऐसे आत्मा को जान कर वह मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर। श्रुतियों का कथन है कि आत्मा के प्रिय करने वाले होने से सब पदार्थ प्रिय होते हैं।

एक सेठ एक छोटे से ग्राम में रहता था वह बहुत धनवान् और कंजूस था बड़े बड़े शहरों के बड़े साहूकारों से भी उसके पास धन अधिक था एक प्रकार से वह इस जगत् का कुबेर भंडारी था। जितना धन उसके पास था सब उसने जमीन में तहखाने में रखा था और उसकी चावियों को प्राण के समान सँभाल कर अपने पास ही रखता था वह उसे अपनी स्त्री अथवा मित्र को कभी भी देता नहीं था, एक क्षण भर के लिये भी अपने पास से चावियों को अलग करता न था। उसके धन की किसी को खबर न थी सामान्यता से ही लोग उसे धनवान् समझते थे और साहूकार को भी मेरे पास कितना धन है उसका पूरा हाल मालूम नहीं था धन इतना अधिक था कि साहूकार उसे गिन भी नहीं सकता था बड़ी उमर में उसे एक पुत्र हुआ था उसकी खुशी में भी सामान्य खर्च किया था, लोग कहते हैं कि पुत्र धन से अधिक प्रिय होता है परन्तु इस साहूकार के विषय में यह नियम झूंठा हो जाता था वह अपने धन को अपने प्राण से भी अधिक प्रिय समझता था।

एक समय उसके घर में डाका पडा संयोगवश इस रात्रि को साहूकार घर पर नहीं था, पास के एक ग्राम में तगादा करने

को गया था वहां देरी हो जाने से घर पर आया नहीं था। घर पर दो नौकर और साहूकार की स्त्री थी उसकी गोद में साल भर का बच्चा था। डाकुओं को देखते ही दोनों नौकर भाग गये। डाकुओं में से कुछ बाहर रहे और दो घर में घुसे घर में सब स्थान पर देखा साहूकार न मिला, बच्चे सहित स्त्री को एक कमरे में सोया हुआ पाया, डाकू आते ही वह जाग्रत हो गई। साहूकार को तंग करके उसके पास से धन का पता लगाकर धन लेने के ख्याल से डाकू आये थे, वह निराश हुए। सब स्थान में घूमते हुए लेने के योग्य कोई कीमती पदार्थ न मिला तब एक डाकू ने स्त्री के पास आकर उससे पूछाः—तेरा पति कहां है? घबराहट में स्त्री कुछ उत्तर देने न पाई ऐसा देख दूसरे डाकू ने कहा—तू घबड़ा मत अपने पति को बतादे हम तुझे दुःख नहीं देंगे।

थोड़ी देर के बाद स्त्री ने कहा कि पास के ग्राम में गये हैं आज रात्रि को घर पर आये नहीं हैं। तब पहिले डाकू ने कहा तेरे घर में धन कहां गड़ा है तू ही बतादे। स्त्री ने कहा मुझे कुछ भी मालूम नहीं है मेरा मालिक धन सम्बन्धी कुछ भी बात मुझसे कहता नहीं है। दूसरे डाकू ने पहिले डाकू से कहा यह क्या जाने? उस पाजी का स्वभाव मुझे मालूम है, वह अपना भीतरी हाल किसी से कहने वाला नहीं है यदि हमें मिल जाता तो काम बन जाता। स्त्री से कहने लगा तेरे पास जो धन है वह हमको दे दे। स्त्री ने कहा मेरे पास कुछ भी नहीं है, मेरा मालिक सब धन अपने पास छिपा कर रखता है। प्रथम डाकू ने कहा हमको धन

नहीं देगी, दिखला नहीं देगी तो हम तेरे लड़के को मार डालेंगे। स्त्री कांपती हुई बोली मेरे शरीर पर जो जेवर है वह सब मैं उतार देती हूँ मेरे बच्चे को मत मारिये कह कर उसने अपने हाथ से जेवर उतार कर सामने धर दिया। प्रथम डाकू बोला गड़ा हुआ धन भी दिखला दे। स्त्री कांपती हुई बोली मैं सच कहती हूँ मुझे कुछ मालूम नहीं है। दूसरे डाकू ने कहा तू उसे क्यों हैरान करता है, जेवर को उठाले मैं उसके पति को जानता हूँ इस बिचारी को कुछ भी मालूम नहीं है।

डाकू घर में सब स्थान पर घूमे सब स्थान पर ठोक २ कर देखा परन्तु कहीं भी भीतर पोल हो ऐसा मालूम न हुआ, स्त्री के पास से जो जेवर मिला वह लेकर चले गये। दूसरे दिन साहूकार घर पर पहुँचा। स्त्री ने डाकुओं को जेवर उतार दिया ऐसा जानकर बहुत कुछ कुढ़ा। कुछ दिन का अरसा देकर फिर उन्हीं डाकुओं ने आकर साहूकार के घर को घेर लिया। साहूकार डाकुओं को देखकर भागना चाहता था परन्तु भाग न सका, डाकुओं ने उसे पकड़ लिया। ग्राम वाले साहूकार की मदद करने को आ नहीं सकते थे, क्योंकि कई डाकू संगीनें लेकर बाहर पहरा दे रहे थे। डाकुओं ने साहूकार से अपना सब धन दे देने को कहा और कहा कि यदि तू माल नहीं देगा तो तुझे जान से मार देंगे। साहूकार ने कहा मुझे तुम लोग भले ही मार डालो मेरे पास है ही क्या कि मैं दूं। मेरे पास बहुत माल है ऐसा कहकर तुमको किसी ने बहका दिया है, घर में सब स्थान पर देख लो जो मिले सो ले जाओ। एक डाकू ने कहा

कैसी बातें बनाता है चल प्राण देने को तैयार होजा, कहकर दो चार थप्पड़ जोर से लगा दिये, साहूकार घबराया और विचारने लगा कि यह दुष्ट मुझे छोड़ेंगे नहीं अब क्या करूं ! मैं धन देकर जिन्दा रहना भी पसंद नहीं करता, मुझे मार डालेंगे तब मेरा धन मुझे क्या काम में आवेगा ? डाकू से रोते हुए कहा मुझे मत मार तुझे जो चाहिये सो ले ले मुझे जिन्दा छोड़। एक डाकू ने दो चांटे लगाते हुए कमर में हाथ डाला वहां से उसे तहखाने की चाबी मिल गई उससे छीन कर हाथ में लेकर बोला यह चाबी किसकी है ? साहूकार ने कुछ उत्तर न दिया तब उसे बहुत पीटा अधिक कष्ट पाकर साहूकार बोला तहखाने की। डाकू ने कहा तहखाना कहां है ? साहूकार तहखाना दिखलाने को चाहता नहीं था परन्तु मार से बहुत घबड़ा गया आज तक वह समझता था कि प्राण से धन प्यारा है अब उसे मालूम हुआ कि प्राण ही अधिक प्यारा है। उसने डाकुओं से कहा मेरे साथ चलो मैं तहखाना दिखला देता हूं, मुझे मारो मत ऐसा कह कर घर के बाहर निकलने लगा; एक डाकू ने मारकर नीचे पटक दिया बाहर जाने न दिया और कहा, इस प्रकार के निमित्त से तू भाग जाना चाहता है तू अब धन दिखाये विना बच नहीं सकता तेरा धन तेरे घर में ही है बाहर नहीं है। गड़ा हुआ धन दिखला दुष्ट तू प्राण खोकर ही धन देगा ! साहूकार मार से भय-भीत होकर कांपता हुआ तहखाने की तरफ चला। तहखाना पाखाने के नीचे था ! पाखाने के पास जाते हुए देख कर डाकू ने उसे फिर पीटा, साहूकार बेहोश होकर गिर गया। थोड़ी देर में

जब होश में आया तब बोला मैं तहखाने के पास तुमको ले जा रहा था तुम मुझे पीट कर बेहोश कर देते हो। एक डाकू बोला छी:! पाखाने के तरफ कहां ले जा रहा है? साहूकार बोला पाखाने में ही तो तहखाना है। दूसरे डाकू ने प्रथम डाकू को रोका। साहूकार ने पाखाने की किवाड़ी खोल कर उस दीवाल की पीछे में एक छोटी खिड़की थी डाकू से चाबी लेकर उसे खोल दी और बोला यह तहखाना है, इसी में मेरा सब माल भरा है। एक डाकू ने साहूकार को मार कर बेहोश कर नीचे पटक दिया और तहखाने में जाकर जितना जवाहरात और सुवर्ण था पांच चक्कर लगाकर बाहर निकाल ले आया और सब डाकू उसे लेकर साहूकार को बेहोश छोड़कर चले गये।

साहूकार धन जाने से बहुत दुःखी था, कुछ दिन में स्त्री पुत्र मर गये, अकेला रहा, बुढ़ापे ने भी आकर घेर लिया बारंबार बीमार पड़ने लगा खांसी-खुर्रे होते हुए दमा हुआ और शरीर हाड़ पिंजर ही रह गया। खाने को मिले नहीं सब कोई तिरस्कार करे इस प्रकार बहुत दुखी होकर मृत्यु की चाहना करने लगा। एक दिन दुःख के आवेश में रात्रि में उठकर चौमासे में चढ़ी हुई नदी जो थोड़ी दूर पर बहती थी उसमें कूद कर प्राण त्याग किया।

स्त्री को धन से बच्चे के ऊपर अधिक प्रेम था इससे उसने बच्चे को मारने न दिया और अपने शरीर के ऊपर का सब गहना उतार दिया, बच्चे को बचा लिया। साहूकार ने अपने प्राण की रक्षा

करकंडा कुओं को धन दिखला दिया और पश्चात् जब शरीर में प्राण रहवे से अत्यन्त कष्ट हुआ तब आत्मा को दुःख न होने के लिये, आत्मा के ऊपर अधिक प्रेम होने से प्राण का भी त्याग कर दिया। धन पुत्र प्राणादि सब प्रिय हैं तो भी धन से पुत्र प्रिय है पुत्र से प्राण प्रिय है और प्राण से भी आत्मा प्रिय है। सबकी प्रियता आत्मा के लिये ही होती है। जो जो पदार्थ प्रिय लगते हैं वे सब जब आत्मा के अनुकूल होते हैं तब ही प्रिय होते हैं, अनुकूल न हो इस समय प्रिय नहीं होते और आत्मा में तो कभी अप्रियता नहीं होती इसीसे आत्मा सब से अधिक प्रिय है यह आत्मा मैं हूँ ऐसा निश्चय करना चाहिये।

पर प्रेमास्पद तया
मा न भूवमहं सदा।
भूयासमिति यो द्रष्टा
सोऽहमित्यवधारय ॥२५॥

अर्थ—मैं कभी भी नहीं था ऐसा नहीं है मैं हमेशा ही रहूंगा इस प्रकार अत्यन्त प्रीति का विषय जो द्रष्टा है वह मैं हूं ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने से मालूम होता है कि अपने अस्तित्व का अभाव किसी को मालूम नहीं होता, मैं नहीं था

ऐसा कोई नहीं जानता–कह नहीं सकता। शरीर के भाव से अपने को एक करके शरीर मैं हूँ ऐसा समझकर भले कोई कहे, परन्तु आत्म भाव से मैं नहीं था ऐसा कहना नहीं बनता और वर्तमान काल में मैं न हूँ ऐसा पागल के सिवाय कोई नहीं कह सकता। कहने वाला कह रहा है तब कहने वाले का निषेध किस प्रकार हो ? इस प्रकार भविष्य में भी मैं नहीं रहूँगा ऐसा भाव नहीं होता क्योंकि भविष्य की सिद्धि का स्थान आधार आत्मा है इस प्रकार तीनों काल में मैं नहीं हूँ ऐसा नहीं है, मैं हमेशा हूँ ऐसा भान होता है यह ही सब से अधिक प्रेम है। आत्मा ही सर्व का द्रष्टा होने से सब से अधिक प्रिय है। वह द्रष्टा मैं हूँ ऐसा निश्चय करना चाहिये।

शंका—प्रियत्व पदार्थ में होता है बाहर होता है अपने आत्मा में किस प्रकार हो ? आत्मा प्रियत्व का ग्राहक है। पदार्थ में प्रियत्व होने से उसका ग्राहक आत्मा बन सकता है। आत्मा को ही प्रिय कहा जाय तब उसका ग्राहक कौन होगा ? इसीसे जो आत्मा को अनुकूल होने वाला पदार्थ है वह ही प्रिय होता है आत्मा प्रिय नहीं।

समाधान—आत्मा के अनुकूल होने से पदार्थ में प्रियत्व होता है यह ठीक है परन्तु जिसकी अनुकूलता में प्रियत्व है तब उस स्वरूप में प्रियत्व क्यों नहीं ? जैसे चूरमा में मिश्री की मिठास है, चूरमा मीठा है। वह जिसकी मिठास से मीठा है ऐसी मिश्री भी मीठी है इस प्रकार आत्मा प्रिय होता है, अप्रिय कभी

भी नहीं होता। अन्य पदार्थ के प्रियत्व का ग्राहक होने से स्वयम् में प्रियत्व न हो ऐसा नहीं बन सकता।

शंका—मिश्री का दृष्टांत ठीक नहीं है चूरमे की मिठास का ग्राहक मनुष्य है मिश्री नहीं है, मिश्री मिठास का स्वरूप है ग्राहक नहीं है और आत्मा ग्राहक होने से प्रिय कैसे है?

समाधान—आत्मा प्रियत्व का ग्राहक है ऐसा जो तुझे मालूम होता है वह अज्ञान से है। जैसे मिश्री की मिठास ही चूरमा में होती है इसी प्रकार आत्मा का प्रियत्व ही पदार्थ में प्रतीत होता है। आत्मा अत्यन्त प्रिय है, सम्पूर्ण प्रियत्व का खजाना है।

शंका—बुद्धि से मैं हूं इस प्रकार बोध होता है बुद्धि न हो तो बोध नहीं होता। इस शरीर के प्रथम बुद्धि नहीं होती तब शरीर के प्रथम मैं था ऐसा किस प्रकार जाना जाय? शरीर के नाश के पश्चात् बुद्धि न होने से मैं होऊंगा यह किस प्रकार सिद्ध हो? मैं हूँ ऐसा वर्तमान काल में ही शरीर और बुद्धि होने से हो सकता है।

समाधान--बुद्धि से ही अस्तित्व सिद्ध होता है ऐसा नहीं है। बुद्धि न हो तब भी अस्तित्व चला नहीं जाता। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि का अभाव है फिर भी कोई अपने को मैं नहीं था इस प्रकार मानता नहीं है; मैं तो था ही ऐसा ही मानता है। सुषुप्ति में जगत् का बोध नहीं था और तू ऐसा कहे कि शरीर तो

वहां था तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जाग्रत अवस्था में व्यवहार करने वाले शरीर का वहां अभाव ही है। अपने से भिन्न के बोध में बुद्धि की आवश्यकता है अपने बोध में नहीं इससे बुद्धि रहित भी अपना अभाव कभी नहीं है। अज्ञान में आत्मा का यथार्थ बोध नहीं होता तो भी हमेशा बने रहने का भाव आत्मा का ही है, इसलिये सबका द्रष्टा सब से अधिक प्रेम स्वरूप आत्मा मैं हूँ ऐसा ही निश्चय कर।

य: साक्षिलक्षणो बोध-
स्त्वं पदार्थ: स उच्यते ।
साक्षित्वमपि बोध त्व-
मविकारि तयाऽऽत्मन: ॥२६॥

अर्थ—जो ज्ञान स्वरूप आत्मा साक्षी रूप से प्रतीत होता है वह त्वंपद का अर्थ कहा जाता है, आत्मा में साक्षित्व बोधत्व भी निर्विकल्पता से है।

## विवेचन ।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है ऐसा सामान्य मनुष्य नहीं जानता, जब कोई तत्त्वमसि आदि महावाक्य का श्रवण करता है तब उसे आत्मा ज्ञान स्वरूप है ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्वमसि महावाक्य में जो त्वंपद है उसका व्यवहार में जीव भाव से उपयोग होता है परन्तु स्वरूप भूत वास्तविक अर्थ किया जाय तो त्वं ज्ञान स्वरूप आत्मा ही कहा जाता है। सबका साक्षी होने से साक्षी

आत्मा ही कहा जाता है। जो किसी की भी सहायता बिना स्वयम् और दूसरों को प्रकाशित करता है उसे साक्षी कहते हैं।

ज्ञान स्वरूप और साक्षी ऐसा जो कथन किया है वह लौकिक दृष्टि से विलक्षण है। मृत्तिका ही जैसे घट का स्वरूप है ऐसे ज्ञान ही जिसका स्वरूप है वह ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप होने से पृथक् ज्ञान करने वाला न समझना चाहिये। साक्षी प्रकाश करता है इससे उसे साक्षी भी कहते हैं यह विकार रहित है इसीसे निर्विकल्प है। सविकल्पज्ञान और सविकल्प साक्षी वह नहीं है।

शंका—जब वह अविकारी निर्विकल्प स्वरूप है तब उसमें ज्ञान स्वरूप और साक्षी कहना नहीं बनता, जहां कल्पना का ही अभाव है वहां ज्ञान स्वरूप और साक्षी किस प्रकार कहा जाय ?

समाधान—तेरा कहना ठीक है। निर्विकल्प में उन दोनों शब्दों का कहना नहीं बनता परन्तु हम कहने वाले सविकल्प में बैठ कर जो सविकल्प में है ऐसे शिष्य को सविकल्प में से निर्विकल्प में लक्ष पहुंचाने के हेतु कथन करते हैं हमारा कहना निर्विकल्प में नहीं है तो भी निर्विकल्प में लक्ष पहुँचाने का हेतु हो सकता है। ज्ञान स्वरूप कहने से तू जैसे लौकिक ज्ञान है ऐसा उसे न समझ ले इसी कारण ज्ञान स्वरूप कह कर निर्विकल्प कहा है और साक्षी भी लौकिक साक्षी के समान नहीं है। व्यवहार में साक्ष्य का साक्षी कहा

जाता है यहां तो कल्पित सब कुछ साक्ष्य है इसीसे अमुक साक्ष्य का साक्षी है ऐसा न होने से केवल प्रकाश स्वरूप से साक्षी का कथन किया है इसीसे साक्षी भी कल्पना में न आवे ऐसा निर्विकल्प ही रहा। विकार वाले पदार्थ सब अनात्म होते हैं इसीसें वह न निर्विकार है न निर्विकल्प है, आत्मा ही निर्विकारी होने से निर्विकल्प है।

देहेन्द्रिय मनः प्राण-
हंकृतिभ्यो विलक्षणः।
प्रोज्झिता शेष षड्भाव-
विकारस्त्वं पदाभिधः ॥२७॥

अर्थ—देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और अहंकार से आत्मा विलक्षण है इसी कारण से ही जो जन्मादि षट् भाव विकार से रहित है वह त्वं पद का लक्ष्यार्थ है।

## विवेचन।

ज्ञान स्वरूप साक्षी का कथन करके निर्विकल्प कहा उसे स्पष्ट समझाने के लिये देहादिक से उसकी विलक्षणता को दिखलाते हैं। देह जड़ है तो भी व्यवहार काल में चैतन्य के समान व्यवहार करता है, इन्द्रियां, मन, प्राण और अहंकार सूक्ष्म है और चैतन्य हो ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार स्थूल शरीर और उसके अंग और सूक्ष्म शरीर और उसके अंग सब जड़ हैं, वे

जिसकी सत्ता से चैतन्य दीखते हैं वह आत्मा उन सबसे विलक्षण है। मायिक पदार्थों में चेतन विकारी प्रतीत होता है, क्योंकि वह चेतन पदार्थ का नहीं है, आत्मा का है और भ्रान्ति से अनात्म पदार्थ में प्रतीत होता है। पदार्थ विकारी है इसीसे उसमें पड़ा हुआ चेतन भी विकारी मालूम देता है। वास्तविक चेतन अविकारी ही है।

पदार्थ के चेतन के समान आत्मा चेतन नहीं है वह अखंड एक रस है कभी भी विकारी नहीं होता, कभी न्यूनाधिक प्रकाश वाला भी नहीं होता, अनेक मायिक पदार्थों को प्रकाशित करने में भी स्वस्वरूप से किंचित् भी न्यून नहीं होता सब अनात्म पदार्थों में इस प्रकार नहीं होता, इसीसे आत्मा उनसे विलक्षण है।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक शरीर में भी विकार को प्राप्त होते रहते हैं और आत्म चेतन ब्रह्मांड भर में रहा हुआ होकर भी विकार को प्राप्त नहीं होता। मन, बुद्धि आदि व्यवहार में ही काम आते हैं अवस्थान्तर में नहीं परन्तु आत्म प्रकाश तो व्यवहार, अव्यवहार, भ्रान्ति, बन्ध, मोक्ष आदि सब अवस्था में सब देश काल में और सबसे अतीत प्रकाश ही देता है इसीसे विलक्षण है।

स्थूल शरीर विकार से युक्त ही होता है, उसका जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश होता है, एक स्थिति में कभी नहीं रहता। उसके आधार में रहे हुए इन्द्रियां, मन, प्राण

और अहंकार भी उसके विकार के साथ में विकारी होते हैं। विकारी से विलक्षण अविकारी होता है इससे आत्मा इनमें विलक्षण है।

देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि अविद्या का कार्य है और अविद्या के शरीर से युक्त रहते हैं इससे सब व्यवहारिक सत्ता में ही है और आत्मा तो स्वतः सिद्ध स्वयम् प्रकाश होने से सबमें एकसा रहने वाला होने से, सबका आधार होने से पारमार्थिक है इसीसे व्यवहारिक पदार्थों से विलक्षण है।

जो सबसे विलक्षण, सब प्रकार के विकारों से रहित आत्मा है वह ही त्वं पद जिसे जीव कहते हैं उसका सच्चा स्वरूप है इसी से जीव भाव की उपाधियों का त्याग करके रहा हुआ चैतन्य स्वरूप ही मेरा त्वं पद का लक्ष्यार्थ है ऐसा निश्चय कर।

त्वमर्थमेवं निश्चित्य
तदर्थं चिंतयेत्पुनः।
अतद्व्यावृत्ति रूपेण
साक्षाद्विधि मुखेन च ॥२८॥

अर्थ—त्वंपद के अर्थ को संशय रहित निश्चय करके दृढ़ करने के निमित्त फिर साक्षात् ब्रह्म के प्रतिपादक श्रुति वाक्यों से तत्पद का वारंवार चिन्तवन करना चाहिये।

## विवेचन ।

त्वं पद का अर्थ तू है और तू कहने से सामान्य मनुष्य अपने को जीव समझता है, इसी से तू जीव है ऐसे त्वं पद के शब्दार्थ से ही उपदेश की सफलता नहीं होती। सामान्य अथ को छोड़ कर विशेष अर्थ वाले श्रुति और विचार द्वारा किये हुए लक्ष्यार्थ का ही यहां कथन किया है, उसे ग्रहण करने से ही कल्याण होता है। अनंत काल से मैं जीव हूँ ऐसा जीव भाव होने से वहुत दृढ़ होगया है इसीसे उस भाव को हटाने के लिये सत्य स्वरूप का अभ्यास वारंवार करना चाहिये। जब तक अमर्यादित शुद्ध चेतन स्वरूप मैं हूँ ऐसा पूर्ण निश्चय न हो तब तक अनेक युक्ति और श्रुति वाक्यों से विचार करे। वारंवार ऐसे विचार का नाम ही अभ्यास है। इस अभ्यास में सहायक ऐसे तत् पद का भी श्रुति वाक्यों के अनुसार विचार करना चाहिये। त्वं पद और तत् पद लौकिक में एक दूसरे से विरुद्ध हैं, त्वं तू है और तत् वह है। इसीसे त्वं और तत् में अन्तर है, इस भेद को निवारण करने के लिये जैसे त्वं का सत्य लक्ष्यार्थ किया इसी प्रकार तत् का भी सत्य-तत्त्वार्थ लक्ष्यार्थ करना चाहिये जब उसका लक्ष्यार्थ ठीक हो जायगा तब त्वं का लक्ष्यार्थ भी दृढ़ होगा।

अप्रत्यक्ष पदार्थ का जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक प्रत्यक्ष करने के लिये श्रद्धा से काम लेना पड़ता है, सद्गुरु और सत्शास्त्र पर विश्वास का नाम श्रद्धा है। त्वं पद में रहा हुआ

और जो तत् पद में रहा हुआ परम तत्त्व है उसका विधि और निषेध मुख से श्रुति वर्णन करती है। 'ऐसा है' इस प्रकार का वर्णन विधि मुख कहा जाता है और 'ऐसा नहीं है' इस प्रकार से निषेध करके समझाया हुआ वाक्य निषेध वाक्य है। विधि वाक्यों में तत्त्व से सीधा सम्बन्ध है और निषेध वाक्यमें निषेध के पश्चात् शेष से सम्बन्ध है। निषेध वाक्य से जो शेष तत्त्व समझा हुआ है वह विधि वाक्य द्वारा बलिष्ठ होता है; विधि वाक्य साक्षात् ब्रह्म के प्रतिपादक हैं इसीसे साक्षात् ब्रह्म के प्रति-पादक श्रुति वाक्यों से तत् पद का वारंवार विचार करना चाहिये।

त्वं और तत् वस्तुतः एक ही है, व्यवहार की दशा में इनका भेद है, व्यवहार में भेद है तो भी वस्तु में भेद नहीं है। व्यवहार अविद्या सहित है और वस्तु अविद्या रहित है। एक स्त्री एक पुरुष की स्त्री है, वह दूसरे पुरुष की बहिन है—इस प्रकार व्यवहारिक भेद है और वस्तुतः स्त्री में भेद नहीं है। इसी प्रकार त्वं और तत् को समझना। व्यवहार में त्वं कर्ता भोक्ता जीव है और तत् कर्म फल भुगताने वाला ईश्वर है तो भी पारमार्थिक में जो चैतन्य त्वं है वह ही चैतन्य चित् है।

अहं ही त्वं और तत् है। अहं कहने वाला अपने सामने वाले को दूसरा मानकर त्वं कहता है और दूसरे को कथन करने के समय में जिसके लिये कथन किया जाता है उस पुरुष को तत् यानी वह कहता है। दूसरे को त्वं और तीसरे को तत् कहा जाता

है। जिसको एक समय में त्वं करके कथन किया था उसीको दूसरे प्रसंग में दूसरे के साथ बात करते हुए तत्–वह कहा जाता है और ऐसे ही अन्य प्रसंग में जिसको तत् कहा गया था वह त्वं हो जाता है। तात्पर्य यह है कि तू का वह और वह का तू होता है; इस प्रकार व्यवहार के भेद में भी त्वं और तत् स्वरूप का भेद नहीं है। श्रुति जीव को त्वं और ईश्वर को तत् कहती है पारमार्थिक में इन दोनों में भी भेद नहीं है एक ही है।

व्यवहार में जीव से ईश्वर की विशेषता है। जीव अपनी तुच्छता को छोड़कर विशेषता वाला होना चाहता है, अधिक सुख और ऐश्वर्य की चाहना करता है, इसी कारण ईश्वर को भी समझने की आवश्यकता है। ईश्वर जीव से अधिक होता हुआ भी व्यवहार में है तब परम अवधि स्थान नहीं है। ईश्वर का ऐश्वर्य माया से युक्त होने से अवश्य नाश को प्राप्त होता है, इसीसे मायिक ईश्वर को न ग्रहण करते हुए जो ईश्वर का स्वरूप तत्पद का लक्ष्यार्थ है उसे ग्रहण करना चाहिये वह ही संपूर्ण दुःखों से रहित अखंड आनंद स्वरूप निरवधि है।

निरस्ताशेष संसार-

दोषोऽस्थूलादि लक्षणः ।

अदृश्यत्वादि गुणकः

पराकृत तमो मलः ॥२६॥

अर्थ—जो संसार के दोषों से रहित है, जो स्थूलादि लक्षणों से रहित है जो अदृश्यादि गुणों से रहित है जो अविद्याकृत तमोमल से रहित है।

## विवेचन।

त्वं पद का लक्ष्यार्थ ही तत् पद का लक्ष्यार्थ है इस प्रकार से कथन किया तब यह आकांक्षा होती है कि त्वं पद का लक्ष्यार्थ तत् कैसे होता है। तत् पद के वाच्यार्थ में ही ईश्वर के सब गुणों की विशेषता है। वे जब लक्ष्यार्थ में नहीं हैं तब लक्ष्यार्थ किस प्रकार का है? उसे समझाते हैं कि संसार अविद्या रूप होने से सब दोषों से भरा हुआ है, संसारी होकर दोषों से रहित हो ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है। दोष ही अनर्थ का मूल है, जीव का स्वरूप दोषों से भरा हुआ है और जीवकी दृष्टि से ईश्वर में ऐश्वर्य सर्वज्ञत्वादि गुणों से जीव के समान दोष नहीं है, तो भी ईश्वर का ऐश्वर्यऔर सर्वज्ञत्वादि उपाधियां संसार के बाहर की नहीं है; संसार में हैं और संसारी को उनका भान होना संभव है। जीव जिस प्रकार अविद्या में फंसा हुआ है इसी प्रकार ईश्वर अविद्या में फंसा हुआ नहीं है तो भी मायासे युक्त ही ईश्वर है, जीव अविद्या में दबा हुआ होता है और ईश्वर माया को दबाये हुए है इससे संसार के विकारों से रहित भी संसार में है। जीव की अपेक्षा होने से ईश्वर सापेक्ष है, यह सब तत् का वाच्यार्थ ही है, उसका लक्ष्यार्थ तो संसार के लगने वाले और न लगने वाले दोषों से परे है, दोष का वहां नाम निशान नहीं है, जिसको परब्रह्म कहते

हैं वह तत् पद का लक्ष्यार्थ है। परब्रह्म के एक देश में माया है और माया में भासता हुआ प्रतिबिम्ब अधिष्ठान चेतन सहित ईश्वर है इसीसे ईश्वर में जो माया कृत चेतन की परिच्छिन्नता है वह तत् पदका लक्ष्यार्थ रूप परब्रह्म नहीं है।

जीव के तीन शरीर हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जीव भाव अनेक होने से सब जीवों के शरीर तीन होते हैं। जीव व्यष्टि रूप है और सब जीवों का एक भाव रूप समष्टि जीव ईश्वर है, जीवों के समान ईश्वर के भी तीन शरीर हैं। जीवों के स्थूल शरीरों का समष्टि रूप ईश्वर का स्थूल शरीर विराट् है, जीवों के सूक्ष्म शरीरों का समष्टि रूप ईश्वर का सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ है और जीवों के कारण शरीरों का समष्टि रूप ईश्वर का कारण शरीर अव्याकृत है। इस प्रकार जीवों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध है ऐसा ईश्वर तत् पदका वाच्य है और यह शरीरादि जिसमें नहीं है ऐसा एक अखंड चेतन अन्तिम सबका आधार तत् पदका लक्ष्यार्थ है। तत् पदके लक्ष्यार्थ में अविद्या और माया न होने से इससे हुए शरीर भी नहीं हैं।

व्यष्टि जीवों का अविद्या कृत स्थूल शरीर बारम्बार जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है और उनके सूक्ष्म और कारण शरीर में संस्कारों और उनके कारणों की बदली हुआ करती है वे कर्माशय से युक्त होते हैं और समष्टि जीव रूप ईश्वर का कर्माशय रहित शरीर कथन मात्र का है इसीसे संपूर्ण संसार के दोषों से रहित है।

व्यष्टि जीवों के पाप पुण्य रूप कर्म के संस्कार हृदय में पड़ते हैं वे ही कर्माशय हैं उसीमें से संस्कार जब पकते हैं तब अदृश्य होकर अन्य जन्मका हेतु होते हैं, जीव अज्ञानी होकर कर्ता भोक्ता के भाव वाला होने से संस्कारों और उनका अदृश्य बनता है। ईश्वर में अज्ञान नहीं है इसीसे कर्ता भोक्ता का भाव नहीं है और उनके अभाव में उसको अदृश्य भी नहीं होता। जैसे योग शास्त्र में जीव से ईश्वर की विशेषता दिखलाते हुए ईश्वर को कर्माशय रहित कथन किया है। ईश्वर का शुद्ध स्वरूप परब्रह्म है वह तत् पद का लक्ष्यार्थ है वैसे ही जीव का शुद्ध स्वरूप भी परब्रह्म है इसीसे तत् पद का लक्ष्यार्थ और त्वं पद का लक्ष्यार्थ एक ही है।

अखंड तत्त्व रूप जो परब्रह्म है उसका टुकड़ा करने में कोई भी समर्थ नहीं है, टुकड़ा-परिच्छिन्न करने वाला पारमार्थिक सत्ता का अन्य कोई पदार्थ है नहीं, तब कौन टुकड़ा करे? और जिसमें टुकड़ा होता नहीं है उसमें टुकड़े का भान भ्रान्ति के विना हो नहीं सकता। जीव भ्रान्ति में है इससे वह अपने को एक व्यक्ति-टुकड़ा समझता है, ईश्वर में कभी भी अज्ञान नहीं है तब वह अपने को टुकड़ा कैसे समझे? उत्पत्ति नाश वाला ही विकारी हो सकता है ईश्वर उत्पत्ति नाश रहित होने से विकार रहित है, विकारी ही मलीन हो सकता है जो अविकारी स्वरूप है वह विकारी कभी नहीं हो सकता। सर्वज्ञत्व आदि ईश्वर के लक्षण भी जीव की दृष्टि में हैं ईश्वर तो अपने स्वस्वरूप परब्रह्म में ही स्थित है।

मायिक पदार्थ कभी भी एक अवस्था में स्थिर नहीं रह सकते माया अवधि वाली है क्योंकि ज्ञान होते ही नहीं रहती ऐसी माया ही जिसका उत्पत्ति स्थान है, उपादान कारण है इससे ही परिच्छिन्नता मर्यादा भासती है, छोटा बड़ा गुण आदि सब भेद माया-अविद्या का प्रभाव है, परब्रह्म माया से परे है। वह माया के काल में भी माया का अधिष्ठान है इसीसे अवधि रहित है और इसी लिये उसका सत् चित् और आनन्द निरवधि है। यद्यपि सत् चित् और आनन्द ऐसा भेद उसमें होना अशक्य है, यह तीनों भेद वास्तविक नहीं है क्योंकि वह उसका स्वरूप है। भेद दृष्टि वाले को समझने के हेतु तीन प्रकार करके समझाया जाता है। जो आनन्द मायिक सहारे से समझा जाता है वह विशेषता मायिक होने से अवधि वाली है। अविद्या में आनन्द परब्रह्म का स्वरूप है ऐसा भान नहीं होता परन्तु पदार्थ का गुण आनन्द है ऐसे जाना जाता है वास्तविक तो वह परब्रह्म का स्वरूप सम और निरवधि है। मायिक पदार्थ से प्रतीत होने वाला आनन्द निरवधि नहीं होता और परब्रह्म का आनन्द तो स्वरूप होने से निरवधि है। ऐसे ही सत्य और सत् स्वरूप में अन्तर है, सत्य असत् की अपेक्षा से होता है और सत् स्वरूप त्रिकालाबाधित है, किसी की भी अपेक्षा न रखते हुए सत् है, वह परब्रह्म है। आपेक्षिक सत्य मायिक है और व्यवहार में होता है इसीसे व्यवहार के लोप में सत्य का भी लोप हो जाता है अथवा वह देश, काल, अवस्था, संयोग और प्रसंग में असत्य भी हो जाता

है। सत् स्वरूप तो अबाधित सत् होने से अखंड है वह कभी भी निवृत्त नहीं होता, ऐसे ही चित् ज्ञान स्वरूप है। जो सत है वह चित है और जो चित् है वह आनन्द है। एक ही परब्रह्म को समझने के लिये तीन प्रकार के भाव से उसके स्वरूप को समझाया है जो वस्तु स्वरूप अवधि रहित और अखंड है।

जीव में रहे हुए व्यवहार में आने वाले विशेष सत् चित और आनन्द का जो भान होता है वह दूसरे में दूसरे का होता है इसीसे वह उत्पत्ति, नाश और परिच्छेद वाला है। जब तक सत्, चित् और आनन्द गुण की कक्षा में हैं तब तक अवधियुक्त हैं। क्योंकि गुण प्रकृति के हैं सत् आदि जब प्रकृति में मिलकर गुण हो जाते हैं तब वे विकारी होते हैं और जहां प्रकृति और प्रकृति के विकारों का अभाव है ऐसे अखंड स्थान में ज्ञानादि स्वरूप होने से निरवधि हैं। जो ज्ञान अवधि वाला है वह ज्ञान स्वरूप नहीं है वह अज्ञान की कक्षा का ही है इसी प्रकार सत् चित् और आनन्द को समझना चाहिये। स्वरूप से वे परब्रह्म ही हैं।

निरस्तातिशयानंदः
सत्यः प्रज्ञानविग्रहः।
सत्तास्वलक्षणः पूर्णः
परमात्मेति गीयते ॥३०॥

अर्थ—जो निरवधि आनन्द स्वरूप है, जो सत्य है ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, जो सत्ता मात्र है, पूर्ण है वह परब्रह्म यानी तत् पद का लक्ष्यार्थ कहा जाता है ।

## विवेचन ।

परब्रह्म शब्दातीत होने से कथन करने के योग्य नहीं है फिर भी उसे तटस्थ रह कर समझा सकते हैं। जो सत्ता मात्र है, सत्ता स्वरूप है वह परब्रह्म है। सत् स्वरूप का नाम ही सत्ता मात्र है, उसे अस्तित्व रूप भी कह सकते हैं। एक अस्तित्व ही मायिक पदार्थों का होना और न होने को सिद्ध करने वाला है क्योंकि माया और उसके पदार्थों में अपना अस्तित्व नहीं है। जिसके अस्तित्व-आधार में माया, अज्ञान और उनके कार्यों का व्यवहार होता है और जो स्वयम् एक रस विकार और व्यवहार से रहित होता है ऐसा सत्ता स्वरूप परब्रह्म है।

जो सब स्थान में यानी देश, काल, वस्तु आदि में परिपूर्ण पूर्ण ही पूर्ण रहता है जिसमें से अनेक मायिक पदार्थों का प्रकाश होता है और प्रकाश देते हुए भी जिसकी पूर्णता कभी न्यून नहीं होती, पूर्ण में से पूर्ण ही होता है वह चैतन्य परब्रह्म है। भूत भविष्य और वर्तमान काल के अनेक पदार्थों का ज्ञान जिस ज्ञान स्वरूप के आधार में से हो सकता है, जो संपूर्ण ज्ञानों का खजाना है, ज्ञान स्वरूप है; इसी प्रकार जो सब चैतन्यों का चैतन्य स्वरूप है, अविकारी ज्ञान स्वरूप है वह परब्रह्म है।

जिसके आनन्द से संपूर्ण विश्व आनन्द को प्राप्त होता है, जो निरवधि आनंद स्वरूप है, जिसका आनंद कभी अस्त को प्राप्त नहीं होता यानी निवृत्त नहीं होता वह परब्रह्म है। अज्ञानकी दशा में आनंद का न्यूनाधिक होना, भासना और न भासना माया के परदे से होता है। जैसे सूर्य प्रकाश ही देता है परन्तु बादल के आने से परदा करके प्रकाश को कमती करता है तो भी सूर्य का स्वरूप—प्रकाश ज्यों का त्यों ही रहता है; इसी प्रकार परमात्मा जो आनंद स्वरूप है उसका आनंद सदैव ज्यों का त्यों ही रहता है उसे ही परब्रह्म समझ।

सर्वज्ञत्वं परेशत्वं
तथा संपूर्णशक्तिता।
वेदैः समर्थ्यते यस्य
तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३१॥

अर्थ—जिसका सर्वज्ञत्व परमेश्वरत्व और संपूर्ण शक्तित्व वेद में प्रतिपादन किया है वह परब्रह्म है ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

प्रथम शुद्ध ब्रह्म जो वेदान्त परिभाषा में कारण ब्रह्म करके कहा जाता है उसका कथन किया था अब वह ही कार्य ब्रह्म जो तत् पदका वाच्य अर्थ ईश्वर है-वह है। मुमुक्षुओं को समझाने

के लिये उपाधि से युक्त कहा जाता है फिर भी वह परब्रह्म ही है ऐसा कथन करते हैं वेद में जिसको ईश्वर करके कथन किया है वह परब्रह्म है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

ब्रह्मांड में अनेक पदार्थ-प्राणी हैं, सबकी क्रिया, व्यवहार और स्थिति आदिक में भेद है और ऐसे ही वे अल्पज्ञ हैं। सबमें किसी प्रकार चमत्कार ऐश्वर्य भी भरा हुआ है और भिन्न २ प्रकार की परिमित शक्तियां भी हैं परन्तु वे सब अल्पज्ञ अनीश्वर और अल्प शक्ति हैं। इसीसे विरुद्ध जिसमें सर्वज्ञता, परम ऐश्वर्यता और सर्वशक्तिमत्ता है ऐसे ( ईश्वर ) परब्रह्म का हृदय में चिंतवन कर।

शंका—जो ईश्वर तत् पद का वाच्य अर्थ है उसीमें सर्वज्ञत्व, परमेश्वरत्व और सर्व शक्तित्व है, लक्ष्यार्थ परब्रह्म में ये लक्षण नहीं है। क्योंकि सर्व मायिक है, पदार्थ, प्राणी, भूत, भविष्यादि सब मायिक ही कहा जाता है, ऐसे मायिक पदार्थादि का ज्ञान जो मायिक हो उसे ही हो सकता है, इसीसे माया रहित परब्रह्म में सवज्ञत्व आदि बन नहीं सकता, पारमार्थिक परब्रह्म व्यवहारिक का बोध कर नहीं सकता।

समाधान—ज्ञान स्वरूप में सर्व और न्यून का कहना बन नहीं सकता ये सब माया में ही होना संभव है, परन्तु जो तत् पद का वाच्य अर्थ ईश्वर है वह जीव के समान मायिक नहीं है; जीव जैसे अविद्या में दबा हुआ है वैसे ईश्वर दबा हुआ नहीं है, इससे मायिक होते हुए भी मायाके विकारोंसे रहित है। वाच्यार्थ

वाला ईश्वर और लक्ष्यार्थ वाला ईश्वर भिन्न भिन्न हो ऐसा नहीं है यह भेद मुमुक्षु को एक कक्षा में समझाने के हेतु ही किया गया है।

शंका—जैसे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ वाला ईश्वर भिन्न नहीं है वैसे ही त्वंपद का वाच्यार्थ जो अविद्या का कर्ता भोक्ता जीव और अविद्या के विकारों से रहित त्वंपद का लक्ष्यार्थ कूटस्थ ये दोनों भी भिन्न नहीं है; तब कूटस्थ को छोड़कर त्वंपदके वाच्यार्थ जीव की सिद्धि ही नहीं होगी।

समाधान—यद्यपि तत् पद के समान त्वंपद का लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में रहा हुआ परब्रह्म एक ही है परन्तु त्वंपदका वाच्यार्थ जीव तो अविद्या के कारण सुख दुःख जन्म मरण को भोगता रहता है और ईश्वर में अज्ञान न होने से तत् पदका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ कथन मात्र है। जीव को तो अज्ञान की दशा में त्वं पदका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ एक नहीं है वाच्यार्थ में स्थित जीव बन्धन में है, बन्धन को भोगता है और लक्ष्यार्थ वाला बन्धन से निवृत्त होता है दोनों में वस्तु स्वरूप एक होते हुए भी बन्धन से रहित लक्ष्यार्थ समझने में कल्याण है। अज्ञान रूप उपाधि को हटाने के लिये उपाधि वाला और शुद्ध स्वरूप को समझना चाहिये, जब ठीक २ अपना स्वरूप समझ में आता है तब सब प्रकार से द्वैतका नाश ही होता है और ईश्वर तो सर्वथा अद्वैत ही है।

यहां सर्वज्ञत्व का जो कथन है वह मायिक भिन्नता के ज्ञान का कथन नहीं है, मूल तत्त्व का ज्ञान ही सर्वज्ञ का ज्ञान है और

सर्वज्ञ है क्योंकि मूल तत्त्वको जानने से सब उससे है ऐसा जाना जाता है। मायिक ऐश्वर्य का नाम परमेश्वर नहीं है, मायिक पदार्थों में जिससे ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है वह तत्त्व परमेश्वर है और भिन्न २ शक्तियां जिस एक में से होती हैं उस तत्त्व का नाम ही सर्व शक्तिवान है।

ऐसा कहा जाय कि जीव तो माया में बहुत अल्प जानता है उसकी अपेक्षा से ईश्वर सब कुछ जानता है, सबको भिन्न प्रकार से जानता है इसीसे सर्वज्ञ है यह भी बन सकता है; क्योंकि जीव का ज्ञान और दृष्टि अज्ञान से अल्प हो गई है इस प्रकार माया से युक्त ईश्वर में नहीं हुआ है इसीसे सबको जानने वाला सर्वज्ञ है। जीव व्यष्टि रूप है जीवोंकी तीनों अवस्था सहित ईश्वर समष्टि स्वरूप है इसी कारण संपूर्ण प्राणियों के संपूर्ण संस्कार ईश्वर में होने से सर्वज्ञत्व ईश्वर में हो सकता है, ऐसे ही जो संपूर्ण ऐश्वर्य व्यष्टियों में है वह सब एक समष्टि में होने से ईश्वर संपूर्ण ऐश्वर्य वाला परमेश्वर है और सब व्यष्टियों का सामर्थ्य समष्टि में होने से सर्व शक्तिवान भी है।

शंका—जब ईश्वर को कथन मात्र ही वाच्यार्थ रूप में कहा है और उसे अपना बोध तो लक्ष्यार्थ परब्रह्म स्वरूप में ही है तब वह सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त कैसे हो सकता है?

समाधान—परब्रह्म और ईश्वर दो पदार्थ नहीं है एक ही है। चेष्टा रहित और चेष्टा सहित, निस्पंद और स्पंद रूप। जैसे निर्विकल्प समाधि में स्थित विदेह पुरुष और सविकल्प में रहा हुआ

जीवन्मुक्त पुरुष। ये दोनों हालत ज्ञानी की हैं, बाहर से दोनों में भेद दीखता है परन्तु ज्ञान में और उसके फल में किसी प्रकार का भेद नहीं है। विदेह पुरुष मुक्त है और जीवन्मुक्त भी मुक्त है, न विदेह मुक्त को कर्तव्य है, न जीवन्मुक्त को कुछ कर्तव्य है, किसी को सुख दुःख नहीं है, इसी प्रकार परब्रह्म और ईश्वर को समझ।

शंका—जीव भी लक्ष्यार्थ रूप स्वरूप से कूटस्थ-परब्रह्म ही है और जब परब्रह्म ही सबका समष्टि है तब ईश्वर के समान जीव भी सर्वज्ञ होना चाहिये।

समाधान—जीव का वास्तविक स्वरूप परब्रह्म ही है परन्तु अज्ञान से आच्छादित होने से उसे स्वरूप का लक्ष नहीं है और ईश्वर माया में है तो भी आवरण और विक्षेप शक्ति से रहित होने से मुक्त ही है। जीव बन्धन में होने से अल्पज्ञ है।

एक समय एक ग्राम में एक तमाशा ( नाटक ) हो रहा था, वहां आस पास के ग्राम वाले देखने को इकट्ठे हो रहे थे, नाटक देख २ कर वे सब प्रसन्न होते थे। तमाशे में ऐसे प्रसंग वारंवार आते थे कि आगे क्या होगा, इसको जानने की आकांक्षा बढ़ जाती थी। ग्राम वालों को तमाशे का वृत्तान्त मालूम न होने से वे आश्चर्य में थे।

उस नाटक का सूत्रधार किसी कारण वश बाहर ग्राम गया था जब वहां नाटक हो रहा था तब वह आ गया और देखने

वाले जहां बैठकर नाटक देख रहे थे, वहां बैठ गया। जब देखने वाले को अब आगे क्या होगा ऐसी आकांक्षा होती थी तब यह सूत्रधार उसे कह देता था, इससे लोग आश्चर्य को प्राप्त होते थे। जो कोई कुछ नाटक के सम्बन्ध में पूछते थे वह सब कह देता था इसीसे सबने आश्चर्य के साथ निश्चय किया कि यह महापुरुष सब कुछ जानता है।

इसी प्रकार ईश्वर जगत् रूप नाटक का सूत्रधार है। संपूर्ण नाटक की रचना उसीसे हुई है, इसी कारण उसे सब पात्रों का सब हाल मालूम है; कौन पात्र किस समय पर क्या करेगा, किस प्रकार वर्तेगा, यह सब उसे मालूम है यह सर्वज्ञता है। ऐसे पर-ब्रह्म की हृदय में धारणा कर।

यज्ज्ञानात् सर्व विज्ञानं
श्रुतिषु प्रतिपादितम्।
मृदाद्यनेक दृष्टांतै-
स्तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३२॥

अर्थ—मृतिका आदिक अनेक दृष्टान्तों से जिसके ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है ऐसा श्रुतियों में प्रतिपादन किया है वह ब्रह्म तू है ऐसा निश्चय कर।

## विवेचन।

मुमुक्षुओं का हित करने के हेतु अनेक प्रकार की श्रुतियां परब्रह्म को समझाती हैं इसमें कथन है कि जिसके ज्ञान से सब

का ज्ञान होता है वह परब्रह्म है। ऐसा कौन तत्त्व है कि जिसको जानने से सब जाना जाय ? संपूर्ण पदार्थों के दो प्रकार के कारण होते हैं। एक निमित्त कारण दूसरा उपादान कारण। पदार्थ की उत्पत्ति में केवल निमित्त होने वाला निमित्त कारण होता है; निमित्त कारण का कोई अंश पदार्थ में नहीं होता, पदार्थ और उसका निमित्त कारण भिन्न भिन्न होते हैं। निमित्त कारण के नाश और विकार से पदार्थ का नाश और विकार नहीं होता, वैसे ही पदार्थ के नाश और विकार में निमित्त कारण का कुछ बिगड़ता नहीं है। जैसे घट का निमित्त कारण कुम्हार है; कुम्हार घट बनाने में निमित्त है यानी कुम्हार द्वारा घट बनता है। कुम्हार का कोई अंश घट में नहीं है, कुम्हार भिन्न है घट भिन्न है। कुम्हार मर जाय अथवा बीमार पड़े तो घट को कुछ भी नहीं होता और घट फूट जाय अथवा सम्पूर्ण नाश को प्राप्त हो जाय उसमें कुम्हार को कुछ नहीं होता।

जिसमें से पदार्थ की उत्पत्ति होती है उसे पदार्थ का उपादान कारण कहते हैं, उपादान कारण और उससे बने हुए पदार्थ में एकता है यानी पदार्थ में उपादान तत्त्व रूप से रहा हुआ होता है दोनों भिन्न भिन्न वस्तु नहीं होते। पदार्थ के नाश से उपादान का नाश नहीं होता परन्तु उपादान के नाश से पदार्थ का नाश अवश्य हो जाता है। जैसे मृतिका घट का उपादान कारण है-घट मृतिका से उत्पन्न हुआ है, मृतिका रूप ही घट है और घट मृतिका का ही नाम है; दोनों एक ही

वस्तु हैं तो भी घट टूट जाय तो मृतिका की कुछ भी हानि नहीं होती और मृतिका के न रहने में तो घट का रहना ही नहीं बनता क्योंकि उपादान मृतिका घट में व्याप्त ही रहती है।

श्रुति का कथन है कि एक के जानने से सब जाना जाय वह कौन है निमित्त कारण है अथवा उपादान। निमित्त कारण पदार्थ से भिन्न है इससे उसको जानने से वह जिस जिसका निमित्त है वह सब जाना नहीं जाता क्योंकि सब पदार्थोंमें उसका वर्तमान काल में सम्बन्ध नहीं है और उपादान कारण के ज्ञान से तो पदार्थ में उपादान रहा हुआ होने से—व्यापक होने से जान सकते हैं। जैसे कुम्हार के ज्ञान से कुम्हार के बनाये हुए संपूर्ण घट, सकोरा, मटकना, कोठी जाने नहीं जाते क्योंकि वह उनसे भिन्न निमित्त रूप ही है, और मृतिका जो उपादान है उसे जानने से संपूर्ण मृतिका का कार्य मृतिका ही है इस प्रकार जान सकते हैं। ऐसे ही सुवर्ण सब जेवरों का उपादान कारण है और सुनार निमित्त कारण है। सुनार को जानने से सब जेवर जाने नहीं जाते क्योंकि सुनार का वर्तमान जेवर में सम्बन्ध नहीं है और सुवर्णको जानने से तो संपूर्ण जेवर सुवर्णमय है इस प्रकार जान सकते हैं। परब्रह्म को जानने से सब पदार्थ वस्तुतः परब्रह्म रूप ही है ऐसा जानाजाता है वह परब्रह्म तू है ऐसा निश्चय कर। श्रुतियां मृतिका आदि कई दृष्टांतों से उपदेश करती हैं।

शंका—घटादि संपूर्ण पात्र मृतिका के हैं और संपूर्ण जेवर सुवर्ण के हैं यह तो सामान्य ज्ञान है, विशेष कहां है ? मृतिका

के ज्ञान से भिन्न २ पात्रों का भिन्न २ ज्ञान होना चाहिये ऐसे ही एक सुवर्ण के ज्ञान से भिन्न २ प्रकार के जेवरों का भिन्न २ ज्ञान हुआ चाहिये ऐसा नहीं होता इसीसे मृतिका और सुवर्ण के ज्ञान से सब पात्र और सब जेवरों का ज्ञान होता है ऐसा कहना नहीं बनता।

समाधान—सबका ज्ञान क्यों न हुआ ? जिसका ज्ञान होता है इसमें दो अंश हैं एक सत्यांश दूसरा उपाधि अंश। उपाधि अंश के ज्ञान की मुमुक्षुओं को आवश्यकता नहीं है और सबके सत्यांश का ज्ञान तो होता ही है।

शंका—कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान यानी मृतिका के जानने से मृतिका के सब पात्रों को मृतिका जानना उसमें चमत्कार ही क्या हुआ ?

समाधान—अद्वैत तत्त्व की तरफ रुचि उत्पन्न करने के हेतु छांदोग्य उपनिषत् में एक के बोध से सबका बोध होने का कथन किया है। जैसे मृतिका के जानने से सब मृतिका के कार्य का ज्ञान होता है ऐसे परब्रह्म के ज्ञान से संपूर्ण जगत् का ज्ञान होता है यानी नाम रूप को छोड़कर वस्तुतः संपूर्ण परब्रह्म है यह बोध होता है।

शंका—परब्रह्म कारण और जगत् कार्य हो तो ऐसा बने ऐसा न होने से परब्रह्म के ज्ञान से जगत् का भी ज्ञान नहीं बन सकता। परब्रह्म कार्य कारण से पर है।

समाधान—परब्रह्म स्वस्वरूप से किसी का कार्य और किसी का कारण नहीं है परन्तु विवर्तोपादान रूप से जगत् का उपादान

कारण है इसी से जगत् को चैतन्य का विवर्त और माया का परिणाम कहा जाता है। उपादान तीन प्रकार का है:—परिणाम, आरम्भ और विवर्त। दूध का पूर्वरूप को छोड़ कर दही होना परिणाम है, तंतु से वस्त्र का बनना आरम्भ है, यह दोनों परिणाम और आरम्भ निर्गुण अव्यक्त में उत्पत्ति का हेतु हो नहीं सकता, विवर्त ही उसमें युक्त हो सकता है। अपने मूल तत्त्व को न बदलते हुए अन्य रूप से प्रतीत होने को विवर्त कहते हैं जैसे जल का तरंग रूप से भान। विकार को प्राप्त न होने से परब्रह्म का जगत् परिणाम नहीं है और आरम्भ भी नहीं है क्योंकि आरम्भ में गुण—वजन बढ़ जाता है इसीसे विवर्त रूप से जगत् का उपादान कारण है ऐसा मुमुक्षु दशा में कह सकते हैं और वही जगत् माया में विकार होकर होने से माया का परिणाम है।

शंका—जब विवेक दृष्टि से माया ही नहीं है तब उसके परिणाम की सिद्धि कैसे होगी ? अस्तित्व रहित पदार्थ से परिणाम कैसे हो ?

समाधान—तूने सच कहा है, जैसा तू कह रहा है ऐसा तुझे पूर्ण बोध हो जाय तेरी दृष्टि में माया का सर्वदा अभाव हो तो तू कृतार्थ हो गया। ऐसा ही तू परब्रह्म का निश्चय कर।

**यदानंत्यं प्रतिज्ञाय**
**श्रुतिस्तत्सिद्धये जगौ।**

तत्कार्यत्वं प्रपंचस्य
तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३३॥

अर्थ—जिसके अनंतत्व की प्रतिज्ञा करके अनंतत्व की सिद्धि के अर्थ संपूर्ण विश्व जिसका कार्य है ऐसा श्रुति में कहा हुआ है वह ब्रह्म है ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

शंका—मैं ब्रह्म का निश्चय करना चाहता हूँ परन्तु एक तरफ से निश्चय करता हूं तब दूसरी श्रुति को देखकर विचार होता है कि इस श्रुति में तो अनंत कहा है, मैं किसका निश्चय करूं अद्वैत का या अनंत का?

समाधान—तू अपनी मलीनता को हटाकर अपने स्वसंवेद्य तत्त्व का विचार कर। श्रुति परब्रह्म को अनंत कहती है इससे वह अनंत होगया अद्वैत न रहा ऐसी विकारी बुद्धि को हटा दे। परब्रह्म अद्वैत स्वरूप ही है, मुमुक्षु और जगत् आदि प्राणी पदार्थ अनंत होने से सबमें ही उसका अस्तित्व—चैतन्य होने से अनंतता से भी वस्तुतः वह ही है ऐसा कथन किया है। जिस प्रकार मृतिका के संपूर्ण पात्र मृतिका स्वरूप है इस प्रकार परब्रह्म का कार्य रूप जगत् भी अनंत रूप से प्रतीत होता है फिर भी स्वरूप से ब्रह्म ही है। अनंत रूप से ब्रह्म ही प्रगट हुआ है, इस प्रकार श्रुति का कथन है इसीसे स्वरूप से अद्वैत और जगत् के भास में अनंत होने से दोनों का विरोध नहीं है।

शंका--परब्रह्म को अद्वैत और अनंत दोनों कहना बन नहीं सकता। एक काल में दोनों विरुद्ध धर्म वाला एक पदार्थ हो नहीं सकता।

समाधान--मैं एक ही काल में एक की दृष्टि में विरुद्ध धर्म का कथन नहीं करता जैसे वह अद्वैत है वैसे अनंत भी है। बोध में अद्वैत है और मुमुक्षु की दृष्टि में अनेक का भान होने से उसका अनुवाद करके श्रुति में कथन किया है।

शंका--मुमुक्षुओं को अभी ज्ञान की सिद्धि हुई नहीं है इस अवस्था में जगत् की अनंतता का भास मायिक है ऐसी मायिक अनंतता का कथन श्रुति क्यों करती है?

समाधान--श्रुति को तेरे जैसे अज्ञानी को बोध कराना है, ज्ञानी को बोध कराना नहीं है, तुझे अनंतता दीखती है ऐसा दीखने में भी पदार्थ वस्तुतः परब्रह्म है यह उसका कथन है। सब पदार्थों को मायिक करके हटादे तो व्यापक तत्त्व का बोध तुझे किस प्रकार कराया जाय।

शंका--यह जगत् प्रपंच परब्रह्म का कार्य हो नहीं सकता इसीसे जिसका यह कार्य है ऐसे परब्रह्म का निश्चय करना भी नहीं बनता। जो जगत् प्रपंच परब्रह्म का कार्य माना जाय तो रस्सी का कार्य भ्रांति का सर्प बन जायगा और रस्सी का कार्य सर्प है नहीं।

समाधान--रस्सी का कार्य सर्प नहीं है तब सर्प किसका कार्य है? तू कहे कि सर्प तो भ्रांति अविद्या का कार्य है तो यह

अविद्या किसकी है ? क्या रस्सी की अविद्या से-रस्सी का यथार्थ बोध न होने से सर्प की उत्पत्ति नहीं है ? इस प्रकार सब प्रपंच परब्रह्म के सहारे रही हुई अविद्या के क्षोभ से बना हुआ होने से परब्रह्म का कार्य है यह प्रथम मैं तुझे समझा चुका हूं। जगत् का विवर्तोपादान कारण चैतन्य परब्रह्म है और वह जगत् माया-अविद्या का परिणाम है। ब्रह्म शुद्ध है अद्वैत है कार्य कारण से रहित है यह तो सिद्धांत वाक्य है। स्वस्वरूप की स्थिति के निमित्त मुमुक्षुओं को प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है। परब्रह्म का निश्चय करने में अनंत भी परब्रह्म ही है, जगत् जिसका कार्य है वह परब्रह्म है ऐसा कथन है।

शंका—जगत् के उपादान और निमित्त दोनों कारण रूप से ईश्वर का कथन किया है परब्रह्म को भी कारण नहीं कहा ?

समाधान—ईश्वर परब्रह्म से अभिन्न है, परब्रह्म से भी जगत् होने की श्रुतियां हैं। ईश्वर जगत् का उपादान और निमित्त कारण है ऐसा जहां कथन है वहां परब्रह्म को शुद्ध रख कर कथन किया है। मुमुक्षुओं को समझने में सुलभ होने के कारण ईश्वर को परब्रह्म से किंचित् हटाकर सृष्टि रचना का कथन है इससे ईश्वर परब्रह्म से भिन्न हो ऐसा नहीं है। उपाधि वाले जीव को उपाधि हटाने के लिये ईश्वर की भी उपाधि का वर्णन है परन्तु जैसे जीव को अज्ञान की उपाधि से दुःख होता है ऐसे ईश्वर की उपाधि ईश्वर को दुःख देने वाली नहीं है। ईश्वर की दृष्टि में उपाधि ही नहीं है इससे यह संपूर्ण प्रपंच रूप विस्तार जिससे है, जिससे

प्रतीत होता है और जिसमें से तत्त्व रूप से हट नहीं सकता वह परब्रह्म है ऐसा तू निश्चय कर। राग द्वेष सहित अनेकता का निश्चय तुझे दुःख दे रहा है उसे हटाते हुए अनंतता मायिक दृष्टि से भासती है, परब्रह्म ही वस्तु स्वरूप है, वह तेरा और सब का आत्मस्वरूप है, ऐसा निश्चय कर।

विजिज्ञास्य तयायत्तु
वेदान्तेषु मुमुक्षुभिः।
समर्थ्यतेऽतियत्नेन
तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३४॥

अर्थ—मुमुक्षु पुरुषों को भी जिसको महा प्रयत्न से विचारने योग्य वेदान्त वाक्यों में कहा है वह ब्रह्म है ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें सब जीते हैं और जिसमें सब लीन होजाते हैं वह ब्रह्म है इस प्रकार का श्रुतियों का वर्णन है, क्योंकि परब्रह्म सबका आत्म स्वरूप होने से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष से विलक्षण है फिर भी तत्त्ववेत्ताओं को नित्य अपरोक्ष है। मुमुक्षुओं को उसका बोध करना अत्यन्त कठिन है। सत्ता के भेद से और बुद्धि का अविषय होने से जिसको

मुमुक्षु पुरुष अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर प्रयत्न करके विचारने में समर्थ होते हैं—जानते हैं, वह परब्रह्म है।

शंका—जिसमें सत्ता का भेद हो और बुद्धि का अविषय हो ऐसे किसी भी पदार्थ का बोध होता देखा नहीं है। जीव को बोध करने का साधन बुद्धि है, जब बुद्धि उसमें—उसके ज्ञान में काम नहीं देती तब बोध किस प्रकार होगा ? और सत्ता के भेद में भी बोध होना अशक्य है, क्योंकि स्वप्नावस्था के किसी भी पदार्थ का बोध प्रत्यक्ष जाग्रत अवस्था की बुद्धि कर नहीं सकती।

समाधान – व्यवहार में तो तूने जैसा कहा है ऐसा ही है परंतु यह बोध स्वस्वरूप का होने से व्यवहार रूप नहीं है। अपने स्वरूप का कभी अबोध नहीं होता, हर हालत में बोध रहता है। अज्ञान से विपरीत भाव हो रहा है उसे निवृत्त करने की आवश्यकता है। जहां विपरीत ज्ञान है वहां ही उसकी निवृत्ति होती है बाद शेष तत्त्व का निरावरण होने से बोध होता है इस प्रकार होने से बोध स्वरूप आत्मा का बोध व्यवहारिक बोध की अपेक्षा से विलक्षण है। भिन्नता युक्त बोध को ही तू बोध कहता हो तो यह तो अज्ञान में ही होता है। पारमार्थिक सत्ता व्यवहारिक और प्रातिभासिक सत्ता का आधार होने से जब व्यवहारिक जीव व्यवहारिक सत्ता की उपाधि के भान को हटा दे तब वह बोध स्वरूप है ऐसा बोध होता है। इसीसे परब्रह्म का बोध कठिन है, सामान्य मनुष्य तो एकता में बोध होने को ही अशक्य समझते हैं इसी कारण बोध के निमित्त

साधन चतुष्टय युक्त मुमुक्षु होना चाहिये। जो मुमुक्षु नहीं है उसे परब्रह्म का बोध नहीं होता। मुमुक्षुओं को भी महा प्रयत्न से बोधकी सिद्धि होती है। जब निर्मल और तीव्र बुद्धि हो, परब्रह्म को जानने की दृढ़ इच्छा हो, सद्शास्त्र और सद्गुरु का संयोग हो तब सतत अभ्यास द्वारा वेदान्त वाक्यों से ब्रह्म जाना जाता है। जहाँ संपूर्ण ज्ञान का अन्त होजाय इस प्रकार के ज्ञान को वेदान्त कहते हैं। जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता तब तक ही उसे जानना कठिन है और जानने के बाद इतना सुलभ होजाता है किसी भी व्यवहारिक पदार्थ का ज्ञान इतना सुलभ नहीं होता। और इस ज्ञानकी विशेषता यह है कि एक समय हुआ ज्ञान कभी जाता नहीं है हर हालत में प्रत्यक्ष ही रहता है कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता इस प्रकार परब्रह्म को जानकर निश्चय करना चाहिये।

जीवात्मना प्रवेशश्च
नियंतृत्वं च तान् प्रति।
श्रूयते यस्य वेदेषु
तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३५॥

अर्थ--जिसका जगत् में जीवात्मरूप से प्रवेश और सब जीवों के प्रति नियंतृत्व वेद में कहा हुआ है वह ब्रह्म तू है ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

शंका--जीव जब व्यवहारिक है तब व्यवहारिक पदार्थ का बोध करने की सामर्थ्यता वाला हो सकता है। परब्रह्म व्यव-

हारिक है नहीं तब वह उसका बोध किस प्रकार कर सकता है ?

समाधान--जीव व्यवहार के कार्य करने से व्यवहारिक हो ऐसा दीखता है। वस्तुतः जीवत्व व्यवहारिक नहीं है, जीव में परम तत्त्व रहा हुआ होने से तत्त्व बोध हो सकता है। जीव रूप से ईश्वर के प्रवेश की श्रुतियाँ हैं।

शंका--जब जीव रूप से भी ईश्वरने ही प्रवेश किया है तब वह विकारी होगा।

समाधान--वह विकारी नहीं है प्रवेश करते हुए भी विकारी न हो यह उसकी विलक्षणता है, जीव होते हुए भी वह विकारी नहीं हुआ। जैसे आतशी शीशेमें सूर्यके प्रकाश का प्रवेश विशेष होता है तब भी वह विकारी नहीं होता इसी प्रकार अधिष्ठान रूप से ज्यों का त्यों रह कर चिदाभास से प्रवेश करता है। उसमें से चिदाभास होते हुए वह विकारी नहीं होता जैसे आतशी शीशे में बिंदु रूप प्रकाश होकर भी जिसका बिंदु हुआ वह विकारी न हुआ वैसे जीव में भी वह कूटस्थ रूप से रहा हुआ होने से उसका बोध हो सकता है। परब्रह्म का ही सब जीवों में प्रवेश है और सब में उसका ही नियंतृत्त्व है।

शंका—जब जीव रूपसे उसका ही प्रवेश है और नियंता भी वह ही है तब उससे भिन्न जीवत्व ही कहां रहा ? सब कुछ वही होगया।

समाधान—वास्तव में तो ऐसा ही है। अज्ञानी जीव को इस प्रकार एकत्व का बोध नहीं है। जीव अज्ञान से आवृत्त होने से अबोध है उसे उपदेश द्वारा स्वस्वरूप का बोध कराने के हेतु प्रवेश आदि श्रुतियों की प्रवृत्ति है।

शंका—जब जीव रूप से परब्रह्म का ही प्रवेश है तब तो ब्रह्म मिट कर जीव हुआ, परब्रह्म न रहा।

समाधान—परब्रह्म जीव रूप से प्रवेश करते हुए भी अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों रहता है, किसी प्रकार से विकार को प्राप्त नहीं होता। उसका विशेषता से जीव में प्रवेश है।

शंका—परब्रह्म का जीव प्रवेश किस प्रकार हुआ और वह किस प्रकार से नियंता है उसे भली प्रकार समझ में आवे ऐसे दृष्टान्त से समझाइये।

समाधान—स्वयंभू राजकुमार के दृष्टान्त को श्रवण कर—एक समृद्धि वाले राज्य का राजकुमार जो छोटी उमर का था वह एक समय नौका में बैठ कर समुद्र की सैर करने चला गया, नौका में अन्य कई मनुष्यों सहित नौका चलाने वाले भी थे। नौका कुछ दूर गई इतने में वेग वाली हवा चलने से समुद्र का जल उछलने लगा, नौका इधर से उधर चक्कर खाने लगी, नौका नाविकों के हाथ में न रहते हुए हवा के वश हो गई। कितनी दूर गई और किस दिशा में गई उसका किसी को पता नहीं था। बैठने वाले सब समझ रहे थे कि मरण निकट है कौन सी क्षण में नाव टूट जायगी अथवा पानी भर जाने पर डूब जायगी इसका पता नहीं है। इस महान आपत्ति में से बचना कठिन है, ईश्वर ही जिसकी रक्षा करेगा वह ही बच सकेगा। पवन ने अधिक जोर किया जिससे समुद्र में भारी हलफे आने लगे तुरन्त नौका टेढ़ी होकर पानी भर जाने से डूब गई। सब मनुष्य समुद्र

में गिरे कोई ऊपर आता था कोई नीचे जाता था सब अपनी अपनी जान बचाने के प्रयत्न में लगे हुए थे जिसको तैरना आता था वह तैरने लगा। अथाह समुद्र में कहां तक तैरा जायगा ऐसा विचार आने से निराश होते थे तो भी मरण पर्यन्त यत्न में ही लगे रहे। राजकुमार पानी में नौका डूबने के साथ ही घबराहट से बेहोश हो गया। पानी की लहरों ने उसे लाकर एक छोटे से टापू पर डाल दिया। टापू छोटा था और वहां कोई और मनुष्य रहता नहीं था। उसमें वृक्षादिक बहुत थे इससे एक प्रकार का जंगल ही था। दूसरे दिन जब सूर्य की धूप राजकुमार पर पड़ी तो वह थोड़ी देर में सचेत हुआ। उसे भूख बहुत लगी थी परंतु कुछ खाने को न था। वहां से वह आगे बढ़ा और कुछ पत्तों को खाने योग्य समझ कर भूख शांत की, एक मीठे पानी का झरना था वहां उसने पानी पिया। शरीर में कुछ बल आ जाने पर वह टापू में इधर उधर घूमने लगा बहुत घूमा फिरा परन्तु कोई मनुष्य न दीख पड़ा तब वह उसी झरने के पास लौट आया और एक पेड़ के नीचे पड़ा रहा। उसने जो अपने कमरपर हाथ डाला तो देखा कि उसकी कटार मजबूती से बंधी होने से कमर में लटक रही थी। उसने सोचा कि यहीं रहने के लिये एक कुटी बना लूंगा। उसके पास कटार थी ही उसने वृक्षों की शाखा आदि काटकर रहने लायक पत्तों से छाई हुई एक कुटी तय्यार कर ली। कुछ दिनों में वह खाने योग्य फलों को भी पहचान गया इससे पत्ते, फल और फूल खाकर आनन्द से दिन व्यतीत करने लगा। जब तक झोंपड़ी बनाने में लगा था उसका चित्त

उसमें लगा रहा बाद को कुछ और कार्य करने की इच्छा होने लगी परन्तु कार्य कुछ था नहीं। तब वह जंगल की लकड़ी से अनेक प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि बनाने लगा। कुछ ही दिनों में बहुत से प्राणी बना डाले परन्तु थे सब खिलौने ही। देखने में आकृति थी, नाम भी रख लिये थे परन्तु कोई कुछ भी चेष्टा नहीं करते थे। उसने सोचा कि चेष्टा विना सब व्यर्थ ही है यह चेष्टा क्यों नहीं करते ? जब तक मेरी सत्ता का उनमें प्रवेश न होगा वे चेष्टा न करेंगे। ऐसा सोच कर उसने सब के मस्तक में एक एक छेद करना आरंभ किया और उसमें से धागा लगा कर सब के भिन्न भिन्न अंगों में जोड़ दिया। सब के धागों के एक में जुड़े रहने से उसके हिलाने से सब हिलने लगे। किसी का कोई अंग हिलता किसी का कोई कोई मुख ऊँचा नीचा करता है, कोई अंगड़ाई ले रहा है, कोई एक दूसरे को मार रहा है, कोई पक्षी पर फड़फड़ा रहा है इसी प्रकार जब राजकुमार डोर हिलाता तो सब का सम्बन्ध उसी डोर से होने से सब चेष्टा करने लगते परन्तु सब की चेष्टा भिन्न होती थी। जब रस्सी छोड़ देता तो सब की चेष्टा बन्द हो जाती, इस प्रकार वह अनन्त काल तक रहा।

स्वयंभू राजकुमार कौन है ? वह ईश्वर है वस्तुतः वह परब्रह्म है। तू ही है। इस दृष्टांत से समझ में आया होगा कि स्वयंभू मैं अपने स्वरूप में रह कर ही छेद से रस्सी द्वारा अपनी सत्ता का प्रवेश कराया है, रस्सी को खींचने वाला स्वयंभू ही है, स्वयंभू के बनाये हुए आकृति वाले और जिसका नाम रखा है

ऐसे जीवों को रस्सी की सत्ता द्वारा चेष्टा कराता है। ब्रह्मरंध्र छेद द्वारा चैतन्य का आभास अन्तःकरण अथवा व्यष्टि अज्ञान में पड़ा है वह ही प्रवेश है। प्रवेश होने से प्राणियों की भिन्न चेष्टा की प्रतीति होती है, सब की चेष्टा का और नियमन का हेतु ईश्वर-परब्रह्म ही है तेरा स्वरूप भी इनसे अभिन्न ही है, इस प्रकार वेद में जिस परब्रह्म के प्रवेश का कथन है वह ही परब्रह्म तू है, ऐसा निश्चय कर।

कर्मणां फलदातृत्वं
यस्यैव श्रूयते श्रुतौ ।
जीवानां हेतु कर्तृत्वं
तद्ब्रह्मेत्यवधारय ॥३६॥

अर्थ—जिसको श्रुति में जीवों को कर्म फल का देने वाला और जीवों के कर्ता भाव में हेतु रूप ( प्रेरक ) कहा है वह ब्रह्म है, ऐसा तू निश्चय कर।

## विवेचन।

जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है, इस प्रकार सामान्यता से कहा जाता है अब यह विचारना चाहिये कि जीवों के किये हुए कर्मों का फल स्वतः प्राप्त होता है या फल को प्राप्त कराने वाला कोई अन्य है। जो ऐसा कहा जाय कि जीव अपने किये हुए कर्म का फल आप ही प्राप्त कर लेता है

तो यह बनता नहीं, क्योंकि कर्म दो प्रकार के हैं—पाप रूप और पुण्य रूप। इनका फल भी दो प्रकार का है, दुःख और सुख। सब कोई सुख को चाहते हैं, सुख रूप कर्म का फल लेना चाहते हैं, पाप का फल दुःख लेना कोई भी नहीं चाहता; इससे जीव अपने किये पाप रूप कर्म का फल दुःख स्वेच्छा से प्राप्त कर ले यह नहीं बन सकता। सबका जीवन सुख दुःख युक्त ही देखने में आता है इससे मालूम होता है कि जीवों के कर्म फल का देने वाला जीव से अन्य ह। ऐसा कहा जाय कि जीवों के कर्म फल का दाता जीवों का अदृष्ट है यह भी नहीं बनता क्योंकि अदृष्ट जड़ है, जड़ स्वतंत्रता से फल देने में समर्थ नहीं होता। इसीसे जीवों के कर्मफल को देने वाला ईश्वर ही है। ईश्वर अविकारी होने से जीवों के कर्म के अनुसार फल देने वाला है।

जिस प्रकार ईश्वर जीवों के किये हुए कर्म के फल को देता है वैसे ही वह जीवों के कर्तृत्व भाव का हेतु रूप प्रेरणा करने वाला भी है। उस प्रेरणा से ही अविद्या युक्त जीव में "मैं कर्ता हूँ" ऐसा भाव होकर कर्ता बनता है। ईश्वर की प्रेरणा सब में सामान्य है और जीव का कर्ता का भाव अज्ञान से विशेषता वाला और परिच्छिन्न है। अविद्या में कर्ता बनकर ही भोक्ता भी बनता है, यानी जो परिच्छिन्न भाव से कर्ता बनता है उसे परिच्छिन्न भाव से भोक्ता बनना ही पड़ता है, कर्तृत्व का प्रेरक ईश्वर है और कर्ता जीव है। ईश्वर में विशेपता वाला परिच्छिन्न अहंभाव न होने से उसे बन्धन नहीं है और जीव में विशेषता वाला अहंभाव होने से बन्धन है।

जैसे जल सब स्थानों में वस्तुतः एक ही प्रकार का है परन्तु देश, काल और पृथिवी के संग से युक्त परिच्छिन्न और अनेक प्रकार का होता है; इसी प्रकार जल वस्तु के समान ईश्वर-प्रेरणा और फलदातृत्व है और अनेक प्रकार के भावाभाव रूप अन्तः-करण के विकारयुक्त संग दोष वाला जीव भिन्न २ प्रकार के कर्ता भोक्ता के भाव वाला होता है। वस्तुतः जीव स्वरूप ही ईश्वर है और ईश्वर स्वरूप ही परब्रह्म है, इसीसे विकार वाले भावों को हटा कर जीवों का फलदाता और कर्तृत्व प्रेरक ईश्वर—ब्रह्म ही जीव का सच्चा स्वरूप है; ऐसे ब्रह्म का निश्चय करना चाहिये।

शंका—परिच्छिन्न और भोग में परतंत्र ऐसा जीव 'मैं व्यापक परब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय किस प्रकार कर सकता है ?

समाधान—जैसे नट अनेक स्वांग धारण करता है परन्तु उसमें रहे हुए मनुष्यत्व से स्वांग का कोई सम्बन्ध नहीं है; इसी प्रकार प्रत्यक् आत्मा पारमार्थिक स्वरूप होने से उसमें परिच्छिन्नता और परतन्त्रता स्वरूप से नहीं है। जीव को अज्ञान से ही भोग में परतन्त्रता और परिच्छिन्नता का भान होता है, अज्ञान की दृष्टि हटाने के निमित्त उसे अपने शुद्ध स्वरूप का निश्चय करना चाहिये।

शंका—अपने शुद्ध स्वरूप का निश्चय कौन करे ? अज्ञानी जीव अशुद्ध है ऐसा अशुद्ध जीव "मैं शुद्ध स्वरूप हूं—व्यापक हूं" ऐसा निश्चय करे तो वह मिथ्या निश्चय हुआ और कहो कि

शुद्ध ही शुद्ध का निश्चय करे तो बनता नहीं है। वह शुद्ध है ही तो उसे निश्चय करने से क्या? यह परतंत्र अल्पज्ञ के निश्चय वाला व्यापक का निश्चय नहीं कर सकता।

समाधान—शुद्ध को निश्चय करने की आवश्यकता ही नहीं है अशुद्ध को ही अशुद्धि निवृत्त करने के निमित्त अपने शुद्ध स्वरूप का निश्चय करना चाहिये; जब वह शुद्ध का निश्चय करता है तब अविद्याकृत सब उपाधियों का बाध करता है इसीसे यह निश्चय सफल होता है मिथ्या नहीं रहता, स्वरूप प्राप्ति का हेतु होता है। जैसे कोई मनुष्य सोया हुआ स्वप्न में बहुत घबरा रहा है, चिल्लाता है तब पास वाले जाग्रत मनुष्य हे देवदत्त, आदि नाम से पुकार कर जाग्रत कर देते हैं, जाग्रत होते ही भयंकर दृश्य और कष्ट निवृत्त हो जाते हैं। शास्त्र भी अज्ञान नींद में सोये हुए जीव को तू शुद्ध स्वरूप है ऐसा कथन करके स्वस्वरूप में जाग्रत कर देते हैं।

तत्त्वं पदार्थौ निर्णीतौ
वाक्यार्थश्चिन्त्यतेऽधुना।
तादात्म्यमत्र वाक्यार्थ-
स्तयोरेव पदार्थयोः ॥३७॥

अर्थ—तत् और त्वं पदार्थ के अर्थ का निर्णय किया अब वाक्यार्थ का निर्णय करते हैं। महा वाक्य के अर्थ में तत् और त्वं पद के तादात्म्य ( एकता ) के अर्थ को ही स्वीकार किया गया है।

## विवेचन ।

तत् पद और त्वं पद का वास्तविक अर्थ यानी लक्ष्यार्थ परब्रह्म है। कई स्थानों में केवल शब्दार्थ से जब काम नहीं चलता तब लक्ष्यार्थ से काम लिया जाता है। शब्दार्थ से ठीक संगति नहीं लगती अथवा अर्थ में विरोध आता है ऐसे स्थान में बुद्धि पूर्वक अर्थ किया जाता है तब जो अर्थ वास्तविक होता है वह लक्ष्यार्थ होता है। तत्त्वमसि महावाक्य में केवल शब्दार्थ करने से विरोध आता है इससे विवेक सहित अर्थ किया जाता है। तत् पद और त्वंपद का शुद्ध परब्रह्म अर्थ प्रथम कर दिया है परन्तु जैसे ये दोनों भिन्न हैं ऐसे परब्रह्म एक होते हुए भी भिन्न भिन्न ही होगा ऐसे विचार की निवृत्ति के हेतु वाक्यार्थ को करते हैं। श्रुति ने दोनों पदों का वाक्यार्थ एकता रूप तादात्म्य को ही स्वीकार किया है।

व्यवहारिक में व्यष्टि और समष्टि जीव ईश्वर है। जीव को अपना स्वरूप प्रत्यक् है और ईश्वर का स्वरूप परोक्ष है, इस प्रकार भिन्न है। दोनों को शुद्ध कहने के पश्चात् दोनों की भिन्नता को भी निवृत्त करना चाहिये क्योंकि जब तक भिन्नता रहेगी तब तक वास्तविक परमपद की सिद्धि नहीं होगी। दूसरे से भय की प्राप्ति ज्यों की त्यों रहेगी इससे वाक्यार्थ करते हैं। पद का अर्थ पद को स्पष्ट करता है ऐसे कई पदों से बना हुआ वाक्य वाक्यार्थ से स्पष्ट होता है। यहां तत्त्वमसि वाक्य की एकता ही स्पष्ट अर्थ है। तत यानी ईश्वर ( तत्त्व ) त्वं यानी जीव ( तत्त्व ) एक यानी

परब्रह्म है। दोनों के भिन्न शब्द होते हुए भी दोनों की एकता—तादात्म्य है इस प्रकार श्रुति का कथन है।

शंका—श्रुति तादात्म्य का कथन क्यों करती है जब तत् और त्वं दोनों एक हैं तब श्रुति में दोनों का कथन करके एकता क्यों की है ?

समाधान—अज्ञानी मनुष्यों को समझाने के निमित्त अज्ञानी के समझे हुए जीव और ईश्वर का श्रुति कथन करती है और कहती है कि दोनों तत्त्व से शुद्ध होने से दो नहीं हैं, एक ही हैं, ऐसा महा वाक्य से एकता का कथन है। दो का कथन वास्तविक होता तो एकता संभव ही नहीं थी। दो का भाव अज्ञान से है इससे अज्ञान में से निवृत्त करने की श्रुति का तादात्म्य कथन है।

एक राजा राज काज में निपुण था, अपना कार्य दक्षता पूर्वक करता था, इससे सब राज्य कर्मचारियों को भी अपना अपना काम सचेत होकर प्रामाणिकता से करना पड़ता था। देश सुखी और समृद्धिवान था परन्तु कभी कभी बदमाश लोग उपद्रव करके लोगों को दुःखी किया करते थे इससे राजा भी स्वयम् भेष बदल करके अपने राज्य में घूमा करता था। राजा रात्रि तथा दिन में भेष बदल कर कार्य करने में इस प्रकार चतुर था कि उसके पास हमेशा रहने वाला पुरुष भी "यह राजा है, भेष बदले हुए है" इस प्रकार जान नहीं सकता था। राजा भेष बदलने के साथ में अपने शरीर की आकृति और शब्द को भी बदल लेता था इसी कारण किसी से पहिचाना नहीं जाता था।

राजा ने अपने बदले हुए भेष में रहने के लिये एक मालिन का मकान पसंद किया था वहां ही वह रहा करता था, मालिन से 'मैं एक परदेशी व्यापारी हूं' ऐसा कह रखा था, मालिन भी उसे व्यापारी ही समझती थी। राजा की तरफ से बारम्बार दाम मिलने से मालिन राजा को चाहती थी और गुप्त से गुप्त बात भी जो वह जानती थी सब राजा से कह देती थी। एक समय राजा व्यापारी के भेष में मालिन के यहां टिका हुआ था तब मालिन ने राजा से कहा "आज रात्रि में राजमहल में उपद्रव होने की बात मैंने सुनी है" राजा ने कहा "क्या महल में राजा नहीं है ?" मालिन ने कहा "दो दिन से राजा किसी कार्य वश राजधानी से बाहर चले गये हैं ऐसा मौका देखकर बदमाश उपद्रव करने वाले हैं, आज रात्रि को वे राजमहल में घुसकर रानी के गले में रहने वाले हीरे के हार की चोरी करने वाले हैं, ऐसी गुप्त बात मैंने सुनी है, राज कर्मचारी तो राजा के जाने से सचेत ही रहते हैं, बन्दोबस्त भी पूर्ण है।" राजा ने कहा, तैंने मुझे प्रथम से ही चेत करा दिया अच्छा किया आज रात्रि को मुझे एक व्यापारीके यहां जाना है, मैंने उसके पास पहुँचने का वायदा किया है अब तो जाना ही पड़ेगा। मालिन ने कहा, आज की रात्रि बाहर न निकला जाय तो अच्छा है, यहां के बदमाश विलक्षण हैं रात्रि को बदमाश के हाथ में अथवा राज्य कर्मचारी के हाथ में फँस जाने का अन्देशा है। राजा ने कहा, मैं सचेत रहूँगा ईश्वर सबका मालिक है।

रात्रि के समय में राजा मालिन के यहां से बदमाशों की तलाश में निकला; जहां जहां राज कर्मचारी उसको रोकते थे वहां वहां अपनी चतुरता से व्यापारी का पूर्ण भेष निभाते हुए निकल कर आगे चला जाता था। बदमाशों ने राजमहल में युक्ति से घुस कर सोई हुई रानी के गले में से हीरे का हार निकाल लिया और महल के बाहर निकल कर भाग गये। भागते हुए खटका होने से राज कर्मचारी बदमाशों को पकड़ने को दौड़े। बदमाश कभी दीखें कभी न दीखें ऐसे भाग रहे थे एक कर्मचारी ने दौड़ कर एक मनुष्य को कुछ अन्धेरे में ही पकड़ लिया, बदमाश के बदले व्यापारी के भेषमें घूमता हुआ राजा ही पकड़ा गया। राजा ने परदेशी व्यापारी होने का कथन किया, इतने में और भी कई कर्मचारी वहां आ पहुंचे और राजा को बदमाश समझ कर खूब पीटा; राजा ने बहुत नम्र भाव से हाथ जोड़ कर विनती की कि मैं बदमाश नहीं हूं व्यापारी हूं परन्तु किसी कर्मचारी ने राजा की बात को माना नहीं अन्त में राजा ने कहा मैं तुम्हारा राजा हूँ तुम लोग मुझे न पहिचान कर कष्ट देते हो इस बात का तुमको पश्चाताप होगा आदि बहुत कहा परन्तु राज कर्मचारियों ने कुछ न सुना और बांधकर चौकी में ले जाकर बन्द कर दिया।

व्यापारी और राजा दोनों नाम भिन्न २ हैं दोनोंका व्यवसाय भी भिन्न है परन्तु जो व्यापारी है वह राजा है और जो राजा है वह व्यापारी है इस प्रकार जीव और ईश्वर तत्त्व से एक है।

शंका—इस दृष्टान्त में तो राजा व्यापारी का भेष धारण किये हुए था इसी कारण से एक है। जीव ईश्वर तो भिन्न २ हैं।

समाधान—ईश्वर ने भी तो अविद्या से जीव का भेष धारण किया है। जैसे व्यापारी वास्तविक नहीं था, वह राजा ही था इसी प्रकार जीव भी वास्तविक नहीं है एक ही है। जीव के तत्त्व से ईश्वर तत्त्व भिन्न नहीं है इस प्रकार ईश्वर के तत्त्व से जीव का तत्त्व भी भिन्न नहीं है। एक के यथार्थ बोध में दूसरे की प्रथक्ता कहां है ? जैसे व्यापारी और राजा एक समय में दोनों भिन्न २ नहीं हैं ऐसे जीव ईश्वर को समझ।

संसर्गो वा विशिष्टो वा
वाक्यार्थो नात्र संमतः।
अखंडैक रसत्वं स
वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥३८॥

अर्थ—यहां संसर्ग अथवा विशिष्टरूप वाक्यार्थ (महावाक्य) में स्वीकार नहीं है, परंतु वह अखंड एक रस वस्तुकी प्रतीति रूप वाक्यार्थ को विद्वान् पुरुषों ने स्वीकार किया है।

## विवेचन।

संसर्ग से विशिष्ट से और तादात्म्य से ऐसे तीन प्रकार से वाक्यार्थ किया जाता है। विशेषण विशेष्य भाव संसर्ग होता है, जैसे नील कमल है इस वाक्य में नील पद अन्य रंग से भिन्न

करके दिखलाता है इससे नील ( काला ) उजले कमल रूप विशेष्य के साथ विशेषण रूप से युक्त होता है, वैसे ही कमल पद भी नील गुण से वस्त्रादिक से भिन्न करके विशेष्य कमल के सम्बन्ध को प्राप्त होता है इससे विशेषण विशेष्य भाव संसर्ग कहा जाता है। दंड वाला देवदत्त है इस वाक्य में दंड विशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थ होता है, दंड से युक्त होने से दंड विशिष्ट देवदत्त है, यह विशिष्ट कहा जाता है। संसर्ग ( सम्बन्ध ) से होने वाला ज्ञान संसर्ग है और मिले हुए का ज्ञान विशिष्ट है, ऐसे दोनों प्रकार के ज्ञान का महा वाक्य में अर्थ नहीं है। ये दोनों संसर्ग और विशिष्ट भिन्नता युक्त ही होते हैं इससे महा वाक्य की एकता का बोध नहीं हो सकता। तीसरा जो तादात्म्य है उसमें ही एकता का बोध होता है इसीसे विद्वान् पुरुषों ने महा वाक्य का तादात्म्य ( एकता ) रूप अर्थ का ही स्वीकार किया है। तत् त्वं यानी वह तू है और त्वं तत् यानी तू वह है। तत् ईश्वर त्वं जीव है और त्वं जीव तत् ईश्वर है; तत्त्व से दोनों अभिन्न—एक ही हैं ऐसा अखंड एक रस वस्तु की प्रतीति रूप अर्थ ही महा वाक्य का अर्थ है। इसीको समानाधिकरण कहते हैं दोनों की एकता किस प्रकार है यह नीचे के दृष्टान्त से समझ में आता है—

एक किसान की कन्या बहुत चतुर थी, एक दो प्रसंगों में राजा ने उसकी बुद्धि देखी और मोहित होकर उसके बाप से कहला भेजा कि मैं तेरी कन्या से विवाह करना चाहता हूँ। तब किसान ने कहा मेरी कन्या की सम्मति लेकर आप उससे विवाह

कर सकते हैं। तब राजा ने किसान की कन्या से विवाह करने को कहा तब वह बोली मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आपसे विवाह कर सकती हूँ। राजा ने कहा वाल तेरी प्रतिज्ञा क्या है ? कन्या बोली आप राजा महाराजा हो हम तुच्छ किसान हैं आप यदि मुझ पर नाराज हो जाओ तो मेरी दुर्दशा होगी इससे किसी कारण से मुझ पर अप्रसन्न होकर राजमहल से निकालने के समय मेरी प्रिय वस्तु मुझे ले जाने देना। आप इस प्रकार स्वीकार करें तो मैं आपसे विवाह कर सकती हूँ। राजा ने कन्या की बात को स्वीकार किया। राजा कन्या से विवाह करके राज-महल में ले गया वहां उसे पटरानी बना कर दोनों आनन्द से रहने लगे।

कुछ समय के बाद रानी से राजा नाखुश हुआ एक, दो, तीन ऐसे कई संयोगों में नाराज होता ही गया तब क्रोध में आकर रानी से बोला—तू गोबर मूत को फेंकने वाली किसान की पुत्री ही रही, मैंने तुझे रानी बना दिया इससे तेरा अभि-मान बढ़ गया मुझे भी कुछ समझती नहीं है; मेरा अपमान करने को उद्यत हो जाती है, तेरे तकदीर में गोबर मूत उठाने का ही निर्माण हुआ है, जात पर भात पड़ती है कुजात पर नहीं, तू रानी होने के योग्य ही नहीं है निकल मेरे महल में से ! जा, जैसे प्रथम तू अपने पिता की झोंपड़ी में गरीबी से दुःखी थी इसी प्रकार दुःखी जीवन व्यतीत कर। रानी ने राजमहल में से चले जाने को स्वीकार करते हुए कहा आप नाराज न हों

आज की रात्रि मुझे महल में रहने दो कल सुबह मैं अपने पिता की टूटी फूटी झोंपड़ी में रहने को चली जाऊंगी।

रात्रि में राजा निद्रावश हो गया तब रानी ने राजा पर एक ऐसी औषधि का प्रयोग किया कि उसे सूंघने से उसे गहरी निद्रा आ गई। रानी मनुष्यों को बुलाकर सोये हुए राजा को पलंग सहित उठवाकर अपने पिता की झोंपड़ी में ले गई। सुबह जब राजा की निद्रा भंग हुई तब राजा ने देखा कि मैं राजमहल में नहीं हूं एक टूटी फूटी झोंपड़ी में पड़ा हूं। वह आश्चर्य सहित बोला, हा! मैं कहां हूं!! रानी पलंग के नीचे बैठी हुई राजा की सब चेष्टा देख रही थी वह सामने आकर विनय सहित कहने लगी:—आप कहां हो इसमें क्या विचार करते हो? आप मेरे बाप की झोंपड़ी में हो, आपकी आज्ञानुसार मैंने राजमहल का त्याग किया है; मैं अपनी वस्तु—अपने गुप्त धन को अपने साथ ले आई हूं जिसको मैं अपने प्राण से भी अधिक चाहती हूं। जगत् के सब पदार्थों से जो मुझे अधिक प्रिय है उसको मैं अपने साथ ले आई हूं। पत्नी को पति से अधिक प्रिय पदार्थ इस दुनियां में अन्य क्या हो सकता है? आप ही मेरे जीवनेश्वर हो मेरा गुप्त धन हो। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनुसार मेरा धन ले आने में मुझसे अपराध हुआ हो तो आपके पास क्षमा की याचना करती हूं।

रानी के इस प्रकार के वचन सुनकर राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ, आनन्द से रानी को आलिंगन करते हुए बोला—आज तक मैं तुझे ठीक पहचानता नहीं था आज ही तेरी पूर्ण पहचान हुई है।

तू मुझे इतनी हद तक चाहती है ऐसा मुझे स्वप्न में भी ख्याल न था, तैंने मेरा कोई अपराध नहीं किया है मैंने ही तुझ पर गुस्से होने का अपराध किया है इसकी मैं क्षमा चाहता हूं। पश्चात् राजा रानी दोनों राजमहल में चले गये और दोनों ने आपस के प्रेम की एकता सहित आनंद पूर्वक जिन्दगी व्यतीत की।

राजा और रानी का गुप्त धन दो वस्तु नहीं है एक ही है। राजा भिन्न और रानी का गुप्त धन भिन्न हो ऐसा नहीं है दोनों के नाम भिन्न हैं तो भी वस्तु एक ही है। राजा के संसर्ग वाला रानी का गुप्त धन नहीं है और गुप्त धन का संसर्ग राजा से नहीं है-विशेषण विशेष्य भाव नहीं है। एक से एक मिला हो ऐसा विशिष्ट भी नहीं है परन्तु दोनों एक ही वस्तु होने से तादात्म्य ही है; यानी राजा ही रानी का गुप्त धन है रानी का गुप्त धन ही राजा है।

प्रत्यग्बोधो य आभाति
सोऽद्वयानंद लक्षणः।
अद्वयानंद रूपश्च
प्रत्यग् बोधैक लक्षणः ॥३६॥

अर्थ—प्रत्यक् बोध स्वरूप (जीव) त्वं पद का लक्ष्यार्थ है, वह ही अखंड आनन्द स्वरूप तत् पद का लक्ष्यार्थ है और

अखंड आनन्द स्वरूप जो तत् पद का लक्ष्यार्थ है वह ही त्वं पद का लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा है।

## विवेचन ।

ऊपर दोनों की एकता की थी उसको ही स्पष्ट करते हैं कि अन्तःकरण की उपाधि युक्त जो जीव है उसे अपना आत्मा प्रत्यक् है और व्यापक ऐसा ईश्वर जो अखंड आनन्द स्वरूप है वह जीव को परोक्ष है परन्तु जीव चैतन्य और ईश्वर चैतन्य में किसी प्रकार का भेद नहीं। भेद उपाधि में है चैतन्य में नहीं है इससे वास्तविक प्रत्यगात्मा रूप जीव अखंड आनन्द स्वरूप (ईश्वर) परब्रह्म है और परब्रह्म ही जीव रूप से भी है। ऐसे एकता का बोध ही श्रुति संमत है। जीव ईश्वर का भेद अज्ञान की दृष्टि में है ज्ञान से तो दोनों की एकता ही है और यह एकता अखंडित है यानी प्रथम न थी, अब की गई है ऐसी नहीं है। जैसे आकाश चाहे कैसी भी उपाधि से युक्त हो वह आकाश ही रहता है, उपाधि के योग से आकाश उपाधि युक्त नहीं होता इसी प्रकार उपाधि में और उपाधि न हो तब भी चैतन्य अखंड आनन्द स्वरूप ही है।

अब आगे इस प्रकार की एकता जो श्रुति ने कथन की है और अनुभव में ही जिसका अपरोक्ष होता है उसके फल का वर्णन करते हैं। इस प्रकार महा वाक्य की एकता के ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं इस करके अविद्या और जीव भाव की निवृत्ति होती है; उसे आगे समझाते हैं।

इत्थमन्योन्य तादात्म्य
प्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य
व्यावर्तेत तदैव हि ॥४०॥

अर्थ—जो त्वं पद के अर्थ का स्वरूप है वह ही तत् पद के अर्थ का स्वरूप है। इस प्रकार जब दो पदों का अत्यन्त अभेद ज्ञान होता है तब आत्मा का कर्त्ता भोक्ता का भाव आदि संसारित्व निवृत्त हो जाता है।

## विवेचन।

तत् पद ईश्वर और त्वं पद जीव की स्वरूप से एकता दिखलाई है। इस प्रकार दोनों के अभेद ज्ञान से क्या फल होता है अब उसे दिखलाते हैं।

जीव परिच्छिन्न, कर्त्ता भोक्ता, सुखी दुःखी और संसार में भ्रमण करने वाला है। उसे जब अपने स्वरूप से ईश्वर के स्वरूप का अभेद ज्ञान होता है तब मैं ईश्वर नहीं हूं—मैं कर्त्ता भोक्ता संसारी जीव हूं, ये भाव निवृत्त हो जाते हैं। जीव की ये सब उपाधियां अज्ञान यानी भेद ज्ञान से थीं। जब भेद ज्ञान रूप अज्ञान निवृत्त होता है और अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है तब अज्ञान कृत संसार और संसारित्व निवृत्त हो जाता है।

अज्ञान से बना हुआ जीव भाव तब तक ही टिक सकता है जब तक स्वरूप का पूर्ण बोध न हो। जैसे प्रकाश के सामने अंधेरा टिक नहीं सकता वैसे ही ज्ञान के सामने अज्ञान टिक नहीं सकता। अनंत काल से संसार में भ्रमण करता हुआ जीव ज्ञान होते ही स्वस्वरूप स्थिति वाला हो जाता है। जीव को संसार और संसारी दुःखों की निवृत्ति और स्वस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति का मुख्य उपाय स्वस्वरूप का ज्ञान ही है। जब तक अज्ञान से जीव अपने को तुच्छ और ईश्वर को महान् सामर्थ्य वाला मानता है तब तक किसी काल में भी उसके दुःखों की सच्ची निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की दशा में जीव को अपने स्वरूप का भान नहीं होता था वह अज्ञान नष्ट होते ही उसे अपना स्वरूप प्रत्यक्ष यानी अपरोक्ष हो जाता है और स्वस्वरूप के तत्त्व के बोध से सब प्रकार की आपत्ति निवृत्त हो जाती हैं। भिन्नता का बोध दुःख का हेतु है और अभेद बोध ही परमपद को प्राप्त कराने वाला है। कर्त्ता भोक्ता का प्रथक् अभिमान ही जीव को दुःखी बनाने वाला है, एकत्व के बोध से कर्त्ता भोक्ता का भाव निवृत्त होने से दुःख नहीं होता।

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं
यद्येवं किं ततः शृणु।
पूर्णानंदैकरूपेण
प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥४१॥

अर्थ—वैसे ही तत् पद का अर्थ जो ईश्वर है उसका परोक्षत्व निवृत्त होता है, इससे क्या फल होगा ऐसा कहो तो उसका उत्तर श्रवण करो। त्वं पद का संसारित्व और तत् पद का परोक्षत्व दूर होने से जो अन्तःकरण उपाधि युक्त ज्ञान स्वरूप प्रत्यगात्मा है वह सदा परिपूर्ण आनंद स्वरूप रहता है।

## विवेचन।

जिस प्रकार जीव को अभेद बोध से अपने स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुआ इसी प्रकार तत्पद रूप ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होजाता है। ईश्वर स्वस्वरूपमें स्थित होने से अज्ञान रहित है इससे उसको ईश्वरत्व का अभिमान ही नहीं है, इसी से उसको जीव के समान अभिमान को निवृत्त करने की आवश्यकता नहीं है। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान से अपने को कर्त्ता भोक्ता जीव मानता था, इसी प्रकार अपने ही अज्ञान का आरोप ईश्वर में करके अपनी और सब प्राणियों की।अपेक्षा से ईश्वर को महान्, जगत् का कर्त्ता और जीवोंके कर्म फलका दाता मानता था। जब त्वं और तत् पद की एकता का यथार्थ बोध हुआ तब जीव का अज्ञान नष्ट हुआ और ईश्वरमें आरोपित की हुई उपाधियों का नाश हो गया। जीव अपने को मैं और ईश्वर को अज्ञान से दूसरा मानता था यानी अपने को प्रत्यक्ष और ईश्वर को परोक्ष मानता था। ये दोनों ही भाव जीव में थे वे ज्ञान से निवृत्त होजाते हैं और एक अखंड तत्त्व ही शेष रह जाता है।

शंका—जीव को अपने अज्ञान से प्राप्त हुए कर्त्ता भोक्ता आदि संसारित्व की निवृत्ति के निमित्त अपने स्वरूप का बोध करना चाहिये; उसे ईश्वर के स्वरूप का बोध करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ईश्वरको अपने से भिन्न और सामर्थ्यवाला मान कर जीव दुःखी होता था, ईश्वर स्वतंत्र और जीव परतंत्र है ऐसा भेद यानी अज्ञान भी जीव में था, इसीसे अपने अज्ञान के साथ ईश्वर भाव रूप अज्ञान की निवृत्ति भी जीव को आपेक्षिक है। जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जाने और ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को न जाने तो जीव का अज्ञान निवृत्त नहीं होता।

शंका—ईश्वर की उपाधि के त्याग के निमित्त ईश्वर को ज्ञान की आवश्यकता है, ईश्वर को ज्ञान हुए विना ईश्वर की उपाधि कैसे निवृत्त होगी ?

समाधान—ईश्वर में त्रिकाल में भी अज्ञान नहीं है इसीसे ईश्वर के अज्ञान की निवृत्त कैसे बने ? जीव को ही अपना और ईश्वर का अज्ञान दुःख दे रहा है इससे अज्ञानी ऐसे जीव को ही ज्ञान की आवश्यकता है। ईश्वर तो हमेशा पूर्ण एक रस अखंड है।

जीव, अन्तःकरण उपाधियुक्त प्रत्यगात्मा है, उसको ही नित्य परिपूर्ण आनन्द होने का ज्ञान होता है और अपने से भिन्न ईश्वरादि की स्थिति का सर्वथा अभाव हो जाता है। तत् पद और त्वं पद की एकता करने की जीव को आवश्यकता है। ईश्वर

में भिन्नता है नहीं, इसीसे उसे एकता की आवश्यकता भी नहीं। जीव की दृष्टि में जीव और ईश्वर का भेद है, ईश्वर की दृष्टि में जीव ईश्वर का भेद नहीं है वह परब्रह्म स्वरूप ही है।

एक पहाड़ के पास जंगल में एक भील रहता था, उसके कुटुम्ब में वह, उसकी स्त्री और चार कन्यायें थीं, सबसे छोटी लड़की सुन्दर थी और माता पिता के अधिक प्यार में बड़ी हो रही थी, उसका नाम सुन्दरी था कोई राजकन्या भी उसके सौन्दर्य की समानता को प्राप्त नहीं थी।

भील के रहने के स्थान के पास एक बहुत बड़ा बट का वृक्ष था उसने अपनी जटाएं जमीन में डाल कर एक भारी हिस्से के ऊपर अपना अधिकार कर रक्खा था, इस प्रकार वह अपनी प्राचीनता को दिखला रहा था। उसके पास एक मीठा पानी का झरना था उसमें से पानी बहकर पास के खड्डे में जमा हो गया था–एक छोटा सा तालाब बन गया था; इसमें मनुष्य डूब जाय इतना पानी था। भील की सबसे छोटी कन्या जिसका नाम सुन्दरी था वह एक दिन झरने के पास बट की छाया में बैठकर बहुत परिश्रम से बनाई हुई सुन्दर गेंद से खेल रही थी। गेंद को उछाल रही थी वह उछल कर लुढ़कती हुई तालाब में जा गिरी, सुन्दरी देखते हुए चौंकी और बोली "हाय ! मेरी गेंद पानी में गिर गई !" उसकी आंखों में पानी भर आया और वहां ही विलाप करने लगी।

"हे भील कन्या, हे सुन्दरी, तू विलाप क्यों कर रही है ? क्या तू गेंद जल में गिर जाने से रो रही है ?" ऐसा शब्द सुन

कर सुन्दरी ने चारों ओर देखा, कोई मनुष्य दिखाई न दिया; तब उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और कहने लगी—कौन बोला ? यहां कोई मनुष्य देखने में नहीं आता, यह मनुष्य की आवाज़ कहां से आई ? क्या मुझे भ्रान्ति हुई ! क्या स्वप्न तो नहीं हुआ। विशेष निश्चय करने के लिये बोली "बोलने वाला कौन है, जो बोलने वाला हो वह मेरे सामने आ जाय।"

"यहां से मैं बोल रहा हूँ" ऐसा उत्तर मिला, सुन्दरी ने आवाज़ की दिशा में देखा तो बट की एक शाखा पर बैठा हुआ एक बंदर दीखा। बंदर मनुष्य के समान बोलता है ऐसा देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वह बोली—हे कपिराज, जो तू मेरी गेंद को जल में से निकाल कर मुझे दे दे तो मैं तुझे उत्तम भोजन कराऊंगी। बंदर बोला—वाह ! इस जंगल में मुझे भोजन का क्या घाटा है जो तू मुझे अपनी जिन्दगी पर्यंत साथ रखने की यानी साथ ही बैठने, उठने, खाने, पीने और सोने की प्रतिज्ञा करती हो तो मैं तुझे तेरी गेंद को पानी में से निकाल कर दे सकता हूं। सुन्दरी बोली—मेरी गेंद को निकाल दे फिर मैं तेरी बात को स्वीकार करूंगी। बंदर ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता, प्रथम मैंने कहा है इस प्रकार वर्तने की प्रतिज्ञा कर; तब ही मैं तेरी गेंद को जल से निकाल कर दे सकता हूँ, नहीं तो तेरी गेंद को निकालने की मुझे परवा नहीं है।

सुन्दरी ने विचार किया कि बंदर मेरे साथ हमेशा रहे यह अशक्य है, वनचर को वन में जैसी मौज आती है ऐसी मकान

में मनुष्यों के संग में नहीं, एकाध दिन रहकर जंगल में भाग जायगा, गेंद के लिये उसका कहना स्वीकार करना ही ठीक है। बंदर से बोली—हे कपिराज! जो मेरी गेंद को तू जल में से निकाल कर मुझे दे तो तेरे कहे अनुसार मैं जिंदगी भर तुझे अपने साथ रक्खूंगी। हर्षित होता हुआ बंदर जल के खड्डे में कूदा और क्षणभर में गेंद को लेकर जलके ऊपर आया। सुंदरी को गेंद देते हुए बोला—अब तू अपने वचन का पालनकर। सुंदरी ने गेंद प्राप्त होने के हर्ष में बंदर की बात न सुनी। फिर बंदर ने कहा—चल, अब मुझे अपने घर पर ले चल। सुन्दरी ने कहा—तैंने बहुत हिम्मत का काम किया है, तू वन में रहनेवाला है वन में ही स्वतंत्रता से विचर सकता है, मेरे घर पर आने से बंधन में पड़ जायगा और नाहक प्राण खोवेगा। तू समझदार है तेरे लिये जंगल में रहना ही अच्छा है। अधिक क्या कहूँ। बंदर ने कहा—मैं बन्धन में पड़ूँगा अथवा मर जाऊंगा उसमें तुझे क्या? तू अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने घर पर ले चल। सुन्दरी गेंद के साथ खेलने लगी, इधर उधर घूम घाम कर चुपके से अपने मकान में चली गई।

दो घंटे के बाद जब घर के सब मनुष्य भोजन करने को बैठे थे तब बाहर से आवाज़ आई कि सुन्दरी, मुझे ले चल अपने साथ भोजन करा; आवाज़ सुनते ही सुन्दरी मूर्छित हुई और सबके सामने बन्दर आ करके खड़ा होगया। भील ने सुन्दरी को सचेत करके पूछा। सुन्दरी ने जो कुछ हुआ था सब कह दिया।

भील बोला—जब तैने वचन दिया है तब वचन के अनुसार बर्त्ताव कर। सत्य का पालन करने में दुःखी क्यों होती है ? बन्दर ने भील को प्रणाम किया और सुन्दरी से कहा, मुझे अपने साथ भोजन करा। लज्जित होते हुए सुन्दरी बन्दर को अपने साथ बैठा कर भोजन कराने लगी। भोजन करने के बाद बन्दर पेट पर हाथ फेरते हुए बोला 'अहो' मैं आज तृप्त हुआ। अब मुझे नींद आ रही है, चल! मुझे अपने सोने के स्थान पर ले चल, हम दोनों ही शयन करेंगे। सुन्दरी बन्दर को हमेशा अपने साथ रखने में दुःखी होती थी। बन्दर को किसी प्रकार से हटा नहीं सकती थी क्योंकि वचन भंग और पिता के कोप से डरती थी। रात्रि दिन बन्दर की टहल करने में ही सुन्दरी का सब समय व्यतीत होने लगा।

सुन्दरी बन्दर से भी बहुत डरती थी क्योंकि बन्दर कुपित होने पर उसके पिता से कह दे और पिता उसे फटकारे। इस प्रकार अचिन्त्य चिंता से उसका शरीर बहुत दुर्बल होगया। एक दिन बहुत दुःखी होकर सुन्दरी ने अपने पिता भील के पास जाकर रोते हुए अपना दुखड़ा सुनाया और बहुत प्रार्थना की कि किसी प्रकार बन्दर को हटादें, परन्तु सत्यवादी भील ने सुन्दरी की बात न मानी। उसका हमेशा कहना था कि सत्य का बर्त्ताव करना ही चाहिये, सत्य के पालन करने में कष्ट आजाय तो उसे सहना उचित है परन्तु धर्म भ्रष्ट होना उचित नहीं है।

सुन्दरी बन्दर से बहुत दुःखी हो रही थी, बन्दर से अपना पीछा छुड़ाना चाहती थी। एक दिन बन्दर सो रहा था, घर में कोई अन्य मनुष्य था नहीं, जाड़े के दिन होने से अंगीठी खूब दहक रही थी, ऐसा देखकर उसने अंगीठी उठाकर बन्दर पर उलट दी। बन्दर को अग्नि लगते ही वह राजा के रूप में बदल गया। सुन्दरी चकित होकर लज्जित होगई। राजा बोला—भय मतकर, मैं केरल देश का राजा हूँ, तेरे हाथ से ही मेरी मुक्ति होने वाली थी। भील कुटुम्ब में राजा का वृत्तान्त सुन कर सब बड़े प्रसन्न हुए और सुन्दरी का राजा के साथ विवाह कर दिया गया।

शाप निवृत्त होते ही सुन्दरी का भीलत्व और केरल देश के राजा का बन्दरत्व दोनों ही निवृत्त होगये। दोनों ही राजा रानी हैं ऐसा प्रत्यक्ष बोध हुआ। 'त्वं' पद का वाच्यार्थ जीव, 'तत्' पद के वाच्यार्थ ईश्वर की परतन्त्रता में घबराता है, जब पूर्ण दुःखी होकर के अग्नि की अंगीठी उलटने के समान वैराग्य को प्राप्त होजाता है तब ज्ञान होने से एकता को प्राप्त होता है। सुन्दरी को जिस प्रकार अपने और बन्दर के अज्ञान की निवृत्ति से परमानन्द की प्राप्ति हुई, उसी प्रकार 'तत्' पद और 'त्वं' पद की लक्ष्यार्थ रूप एकता का ग्रहण करने से प्रत्यगात्मा ही नित्य अखंड और आनन्द स्वरूप है ऐसा बोध होता है। सुन्दरी अपने और बन्दर के अज्ञान से दुःखी थी और अज्ञान को निवृत्त करने की उसे ही आवश्यकता थी—यह जीव के समान है। राजा को बन्दर की उपाधि में होने पर भी अज्ञान न था इसलिये उसे दुःख

भी न था और अज्ञान निवृत्त करने की आवश्यकता भी न थी। यह ईश्वर के समान है।

तत्त्वमस्यादि वाक्यं च
तादात्म्य प्रतिपादने ।
लक्ष्यौ तत्त्वं पदार्थौ
द्वावुपादाय प्रवर्तते ॥४२॥

अर्थ—तत् पद के लक्ष्यार्थ और त्वं पद के लक्ष्यार्थ को ग्रहण करके तत्त्वमसि आदि महावाक्य जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करने में प्रवृत्त होते हैं। तत् पद और त्वं पद के वाच्यार्थ का अभेद हो नहीं सकता।

## विवेचन।

शंका—"वह तू है" अथवा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का सीधा कथन श्रुति का है तब उस कथन को छोड़ कर शब्द का अर्थ काट छांट करके क्यों किया जाता है ? सब मनुष्य इस प्रकार के घुमाव के अर्थ को समझने में समर्थ नहीं होते। शास्त्र-कारों ने भी महावाक्यों का कई प्रकार से अर्थ किया है।

समाधान—"वह तू है" ऐसा जीव ईश्वर की एकता का दीखता हुआ सीधा अर्थ वास्तविक है ऐसा अभिप्राय श्रुतिका नहीं है। यह महावाक्य होने से सूक्ष्म विशेष रहस्य को प्रकट करने वाला है उसे योग्य अधिकारी ही शुद्ध और तीव्र बुद्धिसे ग्रहणकर

सकते हैं। महावाक्य के सब कोई अधिकारी न होने से उसका विचार सहित ही अर्थ होता है। द्वैत के प्रतिपादन करने वाले महावाक्य के अर्थ में द्वैत को रखते हैं वह ठीक नहीं है।

शंका—श्रुतियां सब के लिये समान होनी चाहिये, यह भेद क्यों ?

समाधान—अधिकारियों का भेद होने से भेद है श्रुति का भेद नहीं है। कर्म और उपासना के अधिकारी महावाक्य को सुन कर अनर्थ न करें इसी कारण विचार पूर्वक लक्ष्यार्थ रखा गया है। व्यक्ति अभिमान वाला कर्म और उपासना का अधिकारी होता है ऐसा मनुष्य ज्ञान का अधिकारी न होने से महावाक्य के श्रवण से उसका विहित कर्म और उपासना का भाव शिथिल न हो जाय इसीसे लक्ष्यार्थ की प्रवृत्ति है। वाच्यार्थ करने से विरोध आता है क्योंकि उपाधि युक्त जीव और ईश्वर भिन्न भिन्न हैं, दोनों के सामर्थ्य की भिन्नता है ऐसा विरोध होने से दोनों की एकता असंभव है। कर्म और उपासना का विधान व्यवहारिक है और महावाक्य परमार्थ का बोध कराने वाला है। इससे उपाधि त्याग करके चैतन्य की दोनों में एकता हो सकती है, ऐसी एकता ही श्रुति संमत है।

शंका—वास्तव में अज्ञान और उपाधि है ही नहीं, तब उसका त्याग कैसे किया जाय ? जो है ही नहीं उसका त्याग कैसा ?

समाधान—ठीक है, वास्तव में तो अज्ञान है ही नहीं ऐसा जिसको अखंडित लक्ष्य है वह ज्ञानी है उसे उपाधि का त्याग करके

चतन्य की एकता करनी नहीं है उसे तो चैतन्य की एकता होचुकी है। अज्ञानी जो उपाधि और जीव ईश्वर की भिन्नता को सत्य मानने वाला है उसे ही उपाधि का त्याग करके चैतन्य की एकता करने की आवश्यकता है। द्वैत में बैठे हुए ैत भाव से भरेहुए मनुष्यों को भाव से हटा कर लक्ष्य से अद्वैत में आनेके उपदेश रूप महावाक्य की प्रवृत्ति है। महावाक्य द्वारा लक्ष्य से की हुई एकता प्रत्यक्ष फल को देने वाली है।

हित्वा द्वौ शबलौ वाच्यौ
वाक्यं वाक्यार्थ बोधने।
यथा प्रवर्ततेऽस्माभि-
स्तथा व्याख्यातमादरात् ॥४३॥

अर्थ—उपाधि युक्त तत् पद और त्वं पद दोनों के वाक्यार्थ का त्याग करके महावाक्य जिस प्रकार से अखंड लक्ष्यार्थ से प्रवृत्त होता है उसका भली प्रकार से व्याख्यान किया।

## विवेचन।

पामर, कर्मी और मुमुक्षु तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं। पामर मनुष्य जब तक शुद्ध संस्कार से शुद्ध न हो वहां तक पामर ही रहता है उसे शास्त्रोक्त विधियुक्त कर्म करने का भी अधिकार नहीं होता। जिसके संस्कार शुद्ध हैं और शास्त्र विधि का आचरण करने की योग्यता भी आचार्य से प्राप्त कर ली है; वह कर्म और

उपासना करके ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। मुमुक्षु वह है कि जिसने पूर्व अथवा पूर्व जन्म में कर्म उपासना की है और इनसे जिसका अंतःकरण शुद्ध हुआ है, जो नाशवंत ऐश्वर्य की चाहना से रहित होकर परमानंद को चाहते हुए वैराग्य सहित गुरु के उपदेश का ग्रहण करता है।

पामर मनुष्य वेदोक्त कर्म कर नहीं सकता, कर्मी को कर्म और उपासना का अधिकार है यानी कर्म उपासना दिखलाने वाली श्रुतियों तथा वेद के अवांतर वाक्य के अनुसार आचरण कर सकता है, वह द्वैत में ही ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। तीसरा जो इन दोनों से श्रेष्ठ है लौकिक ऐश्वर्य के त्याग से परमपद का ही भाव वाला है उसके ही लिये महावाक्य है।

महावाक्य में तीन पाद हैं। जीव और ईश्वर वाचक दो पाद और दोनों की एकता करने वाला तीसरा पाद। जीव और ईश्वर इन दोनों के दो दो अर्थ किये हैं। जीव उपाधि युक्त और अशुद्ध, ईश्वर उपाधि युक्त और शुद्ध। उपाधि युक्त जीव कर्त्ता भोक्ता है वह त्वम् पद जीव का वाच्यार्थ है, उपाधि युक्त ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता सर्वज्ञ है वह तत् पद ईश्वर का वाच्यार्थ है। दोनों वाच्यार्थ उपाधि युक्त होने से वाणीजन्य हैं। जीव का शुद्ध स्वरूप साक्षी है और ईश्वर का शुद्ध स्वरूप परब्रह्म है; दोनों का शुद्ध स्वरूप वस्तुतः एक ही है, यह इन्द्रियातीत है। मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार समझ कर चैतन्य के देश में चैतन्य को अपना स्वरूप है ऐसा अनुभव करके कृतकृत्य होता है।

आलंबन तयाऽभाति
योऽस्मत् प्रत्यय शब्दयोः ।
अन्तःकरण संभिन्न-
बोधः स त्वं पदाभिधः ॥४४॥

अर्थ—जो अंतःकरण रूप उपाधि सहित चैतन्य 'मैं' ऐसे शब्द और 'मैं' ऐसे ज्ञान का विषय रूप भासता है वह त्वं पद का वाच्य अर्थ जीव है।

## विवेचन ।

अब त्वं पद के वाच्यार्थ का स्पष्ट वर्णन करते हैं वह उपाधि युक्त जीव है। अंतःकरण की वृत्ति रहित किसी का भी उच्चार होना संभव नहीं है। अंतःकरण अथवा व्यष्टि अज्ञान ही जिसकी उपाधि है ऐसा चैतन्य जीव कहलाता है। जीव जब मैं करके कथन करता है तब मैं करके कथन किया हुआ शब्द जिसको विषय करता है यानी मैं करके जो समझा जाता है और जो उसका ज्ञान है वह व्यवहारिक जीव है। जैसा विषय होता है उसका ज्ञान भी वैसा ही होता है, विषय उपाधि सहित चैतन्य है इससे उसका जीव रूप ज्ञान भी उपाधि के भीतर ही है। यह ज्ञान व्यवहारिक होने से तथा शुद्ध पारमार्थिक स्वरूप न होने से अज्ञान कहलाता है। उपाधि के साथ चैतन्य की एकता युक्त जीव है और यह अज्ञान में है।

अज्ञानी जीव को मैं कौन हूँ इसका यथार्थ बोध नहीं है, अज्ञान से आवृत्त चैतन्य जब बोध करता है तब अज्ञान सहित ही करता है; अन्तःकरण में पड़े हुए चिदाभास से युक्त बोध व्यवहारिक सत्ता में होने से व्यवहारिक है और जीव का व्यवहारिक अर्थ त्वं पद का वाच्यार्थ होता है।

निद्रा दोष युक्त जीव को अपनी जाग्रत् अवस्था का बोध नहीं होता। वह स्वप्न सृष्टि और पदार्थों को सत्य समझ कर स्वप्न में वर्ताव करके सुखी दुःखी होता है, स्वप्न स्थिति को छोड़ कर अन्य अपने व्यवहारिक स्वरूप को भी नहीं समझता—समझने में असमर्थ होता है। संयोगवश समझ जाय तो स्वप्न की स्थिति ही नहीं रहती इसी प्रकार त्वं पद के वाच्यार्थ जीव जो व्यवहारिक है, उसका भी पारमार्थिक स्वरूप समझने में नहीं आता। व्यवहारिक जीव अविद्या दोष से युक्त होने से पारमार्थिक स्वरूप का बोध नहीं कर सकता; व्यवहारिक पदार्थ और संसार को सत्य समझ कर वर्ताव करता हुआ सुखी दुःखी होता रहता है; यह वर्ताव वाच्यार्थ जीव का है।

जीव के चक्षु, हृदय और कंठ तीन देश हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन काल हैं, स्थूल सूक्ष्म, और कारण तीन शरीर-भोग सामिग्री हैं, विश्व, तैजस् और प्राज्ञ जीवत्व के अभिमानी हैं। जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यंत जीव का कार्य है। अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अनेक, पराधीन, असमर्थ, अपरोक्ष, अविद्या ये आठ जाव के धर्म हैं, इन सब उपाधियों सहित अविद्या और

उसमें पड़े हुए अधिष्ठान कूटस्थ सहित चिदाभास जीव कहलाता है; वह त्वं पद का वाच्यार्थ है।

मायोपाधिर्जगद्योनिः
सर्वज्ञत्वादि लक्षणः।
पारोक्ष्य शबलः सत्या-
द्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥४५॥

अर्थ—जो माया की उपाधि सहित चेतन है, जगत् का अधिष्ठान है, सर्वज्ञत्व आदि लक्षणों से युक्त है, परोक्ष और सत्यादि युक्त आत्म चेतन है वह तत् पद का वाच्यार्थ ईश्वर है।

## विवेचन।

अब तत् पद के वाच्यार्थ का वर्णन करते हैं। व्यष्टि जीवों का अज्ञान जब एकत्र समझा जाय तब समष्टि अज्ञान होता है। ऐसे समष्टि अज्ञान (माया) का आश्रय और विषय होने से मलिनता से ढके हुए दर्पण के समान जो माया से आच्छादित है यानी माया जिसकी उपाधि है, माया से बने हुए जगत् रूप भ्रम का जो स्थान अधिष्ठान है, सब जीव अपने अपने अज्ञान से भिन्न होते हुए जहां समुदाय से एकता को प्राप्त हुए हैं सब के अल्प ज्ञान का समुदाय रूप जो सर्वज्ञत्व, सर्व शक्तित्व आदि लक्षणों से युक्त है, जीव की दृष्टि से जो परोक्ष है, जीव की अपेक्षा से जो बल वाला है, जो सत् चित् और आनन्द स्वरूप है; वह तत् पद का वाच्यार्थ ( ईश्वर ) है।

अव्याकृत माया ईश्वर का देश है, उत्पत्ति स्थिति और प्रलय ईश्वर का काल है, तीनों गुण ईश्वर की वस्तु हैं, विराट हिरण्यगर्भ और अव्याकृत ईश्वर के शरीर हैं, वैश्वानर सूत्रात्मा और अंतर्यामी तीनों शरीर के अभिमानी हैं। मैं एकसे बहुत होऊं ऐसी ईक्षणा से लेकर जीव रूप से प्रवेश पर्यंत ईश्वर का कार्य है, सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, व्यापक, एक, स्वाधीन, समर्थ, परोक्ष, माया की उपाधि ये ईश्वर के धर्म हैं। इन सब सहित माया और अधिष्ठान ब्रह्म सहित उसमें पड़ा हुआ चिदाभास तत् पद ईश्वर का वाच्यार्थ है।

इस प्रकार के ईश्वर के स्वरूप को जीव समझता है, जीव के लिये ईश्वर है, ईश्वर को अज्ञान न होने से ईश्वर तो ब्रह्म स्वरूप ही है इससे जीव के लिये ईश्वर के वाच्यार्थ का वर्णन है क्योंकि उसे अज्ञान निवृत्ति के हेतु चैतन्य की एकता करना है।

प्रत्यक् परोक्षतैकस्य
सद्वितीयत्व पूर्णता।
विरुध्यते यतस्मा-
ल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥४६॥

अर्थ—तत् पद और त्वं पद के वाच्यार्थ की एकता की जाय तो एक में ही प्रत्यकत्व, परोक्षत्व, परिच्छिन्नत्व और व्यापकत्व का विरोध होता है इसीसे महावाक्य के निर्णय में वाच्य रूप शक्ति वृत्ति प्रवृत्त नहीं होती किन्तु, लक्षणावृत्ति प्रवृत्त होती है।

## विवेचन ।

जीव और ईश्वर के वाच्यार्थ का वर्णन करके अब दोनों की एकता करते हैं तो बनती नहीं है, क्योंकि समान धर्म की एकता हो सकती है, विरोधी धर्म की एकता असंभव है। उसे अब दिखलाते हैं। जीव के और ईश्वर के लक्षण भिन्न हैं। जीव अपने को प्रत्यक् है और जीव को ईश्वर परोक्ष है, जीव परिच्छिन्न है और ईश्वर व्यापक है, इस प्रकार लक्षणोंमें विरोध है।

शंका—जीव को जैसे अपना स्वरूप प्रत्यक् है वैसे ही ईश्वर को ईश्वर का स्वरूप भी प्रत्यक् है फिर जीव को ईश्वर का स्वरूप परोक्ष है ऐसा कथन क्यों करते हो ?

समाधान—यहां जीव और ईश्वर में रहे हुए एकत्वका बोध जीव को करना है, ईश्वर बोध स्वरूप होने से एकता का बोध उसे करना नहीं है। जीव की दृष्टि से ही जीव के लक्षण और ईश्वर के लक्षण की भिन्नता है।

शंका—जब तत् ईश्वर और त्वं जीव इन दोनों के धर्म में एक दूसरे से विलक्षणता है—विरोध है जिससे एकता नहीं हो सकती, तब श्रुति का तात्पर्य एकता करने में न होगा और यदि ऐसे कहो कि श्रुति का तात्पर्य एकता में है तो किस प्रकार से है।

समाधान—सामान्यता से जो शब्द का वाच्यार्थ होता है उसे लोग अर्थ कहते हैं; अन्य सामान्य वाक्यों से तत्त्वमसि महावाक्य की विशेषता है, इसीसे सामान्य अर्थ से काम नहीं

चल सकता; केवल सामान्य अर्थ को जानने वाले का यह विषय नहीं है। जहां सामान्य अर्थ में विरोध भासता है ऐसे स्थान में विचार पूर्वक अर्थ किया जाता है जिसे लक्ष्यार्थ कहते हैं।

वाच्यार्थ को मुख्य अर्थ भी कहते हैं क्योंकि सुनने के साथ ही उसका अर्थ समझने में आता है। अधिक विचार करने की आवश्यकता न होने से अधिक मनुष्य समझ सकते हैं। यह अर्थ उसमें रहे हुए सामर्थ्य से होता है इससे उसे शक्ति वृत्ति भी कहते हैं। नियम यह है कि जहां वाच्यार्थ में विरोध होता हो—अर्थ का मेल न मिलता हो वहां उस अर्थ को छोड़ उसके सम्बन्ध आदि से विचार पूर्वक अर्थ किया जाता है; लक्ष से अर्थ किया जाता है इसीसे उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। विरोध में लक्ष्यार्थ बिना यथार्थ अर्थ नहीं होता इसीसे महावाक्य में लक्ष्यार्थ की ही प्रवृत्ति होती है।

परापूर्व के प्रसंग को देखते हुए श्रुति का तात्पर्य दोनों पदों की एकता में नहीं है यह सिद्ध नहीं होता, पिता ने अनेक युक्तियों से परब्रह्म को समझाते हुए यह तू है इस प्रकार कथन किया है, तत्त्वमसि से परब्रह्म ही तू है इस प्रकार की एकता सिद्ध होती है और वाक्यों से भी एकत्व की सिद्धि होती है।

जीव, ईश्वर जो उपाधि युक्त जीव की दृष्टि में हैं उनकी उपाधि सहित एकता करने वाला अज्ञानी से भी अधिक अज्ञानी है। जीव और ईश्वर की भिन्नता अज्ञानी जानते हैं। अज्ञान निवृत्त हुए बिना एकता का कथन अज्ञान में भी अज्ञान को

बढ़ाना है। ईश्वर और जीव की एकता स्वरूप में है उपाधि युक्त में नहीं है। जो उपाधि के भाव से रहित होता है और निर्मल अन्तःकरण वाला होकर उपाधि का बाध करके एकता करता है वही ठीक एकता को करने वाला है। जो पूर्ण ज्ञानी है उपाधि और उपाधि वाले का भी जिसको बोध शेष नहीं है ऐसे विज्ञानी विदेही जीवन्मुक्त को उपाधि दीखती ही नहीं है तब उसे बाध करके एकता करने की आवश्यकता भी नहीं रहती वह अखंड एक रस ही होता है।

शंका—महावाक्य का इस प्रकार चक्र से अर्थ क्यों किया जाता है ?

समाधान—महावाक्य महान् है, अमूल्य है, उसका लक्ष्य अलौकिक है इससे इस प्रकार अर्थ किया जाता है। जो पदार्थ अधिक कीमती समझा जाता है उसे लोग पूर्ण रक्षित रखते हैं योग्य अधिकारी बिना अन्य के देखने में भी नहीं आता; इस प्रकार महावाक्य ज्ञान के अधिकारी के लिये है; ज्ञान के अधिकारी के सिवाय अन्य मनुष्य इसके अर्थ को न समझ सकें इस कारण उसके रहस्य को गुप्त रखा है। कर्म और उपासना के अधिकारी उसको यथार्थ नहीं समझने के कारण अनर्थ को प्राप्त न हों इसी कारण गुप्त रखा गया है। तत्त्वमसि महावाक्य का अन्तिम उपदेश है और साधन सम्पन्न ज्ञान के अधिकारियों के लिये दिया गया है, कर्म और उपासना वाले के लिये नहीं। अहंभाव से युक्त ही कर्म और उपासना करने का अधिकारी होता है

और तत्त्वमसि महावाक्य का लक्ष्यार्थ तो अहंभाव को ही तोड़ देता है।

शंका—श्रुति को सब मनुष्य समान होने चाहिये, यह कर्म और उपासना के अधिकारी के लिये और यह ज्ञान के अधिकारी के लिये, ऐसा भेद क्यों ?

समाधान—श्रुतियां सब मनुष्यों के लिये हैं इससे योग्यता के अनुसार सबका उपदेश उसमें है। श्रुति में विषमता हो ऐसा नहीं है। रोगी को रोग के अनुसार दी हुई औषधि ही उपयोगी होती है। जो जिसकी खुराक है वे ही उसे ग्रहण कर सकते हैं इसी प्रकार श्रुति का कथन है।

मानान्तरविरोधे तु
मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते
प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥४७॥

अर्थ—वाक्यार्थ का मुख्यार्थ को ग्रहण करने से प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरोध आता हो तो मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले से जो अर्थ की प्रतीति होती है उसे लक्षणा वृत्ति कहते हैं।

## विवेचन।

तत् त्वं के वाच्यार्थ का वर्णन करने के बाद इन दोनों की एकता करने में विरोध होता है इसीसे लक्षणा वृत्ति का कथन करते हैं; लक्षणा वृत्ति से दोनों पदों की एकता होती है और विरोध नहीं होता।

जब किसी वाक्य में अमुक पद का मुख्य अर्थ यानी शब्द के सुनने के साथ तुरन्त प्रतीत होता हुआ अर्थ ग्रहण करने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध आता हो तब उस मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले से विचार पूर्वक अर्थ की प्रतीति होने को लक्षणा वृत्ति कहते हैं। ऐसी लक्षणा वृत्ति मुख्य तीन प्रकार की है—जहत, अजहत और जहदाजहत।

जहत लक्षणा में मुख्य अर्थ का त्याग और उसके सम्बन्धी का ग्रहण होता है, मुख्यार्थ का त्याग होने से ही उसे जहत कहते हैं। जैसे किसी ने कहा "गंगा में गैया का रहने का स्थान बनाया गया है" इस वाक्य में गंगा नाम जल प्रवाह का है जल प्रवाह गंगा का मुख्य अर्थ है; उसमें गैया का रहना अशक्य है इससे लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। गंगा जल के प्रवाह को छोड़कर उसके साथ सम्बन्ध वाला जो गंगा का किनारा है उसमें लक्षणा होती है। गंगा के जल प्रवाह में गैया के रहने का छप्पर नहीं होगा परन्तु उसके किनारे पर छप्पर होगा ऐसा अर्थ जहत लक्षणा से होता है। यह जहत लक्षणा का उपयोग "तत्त्वमसि" महावाक्य में नहीं होता क्योंकि उसमें मुख्य अर्थ का त्याग होता है। तत्त्वमसि में चैतन्य और उसकी सम्बन्धी उपाधियां हैं; उपाधियों का ग्रहण और चैतन्य का त्याग अयुक्त है।

अजहत लक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता और उसके ग्रहण के साथ उसके सम्बन्धी का भी ग्रहण होता है त्याग न होने के कारण उसे अजहत लक्षणा कहते हैं। जैसे किसी ने

कहा "श्वेत दौड़ता है" इस वाक्य में श्वेत जो रंग है उसके जड़ होने से उसका दौड़ना असम्भव है-प्रमाण से विरुद्ध है। तब सामने दृष्टि करते हुए सफेद घोड़े को दौड़ता हुआ देखकर सफेद रंग वाला घोड़ा दौड़ता है ऐसा अर्थ किया जाता है, दौड़ना घोड़े में सम्भव है; इसको अजहत लक्षणा कहते हैं। यह अजहत लक्षणा का उपयोग "तत्त्वमसि" महावाक्य में नहीं होता, क्योंकि उसमें मुख्य अर्थ जो श्वेत है उसके साथ उससे अधिक घोड़े का भी ग्रहण होता है; कुछ त्याग नहीं होता और न कहे हुए अधिक का भी ग्रहण होता है। तत्त्वमसि में यानी तत् और त्वं पद में मुख्यार्थ सहित जो कुछ कथन नहीं किया है उसका भी ग्रहण होने से उपाधियों का विरोध निवृत्त न होकर और अधिक के ग्रहण से अनर्थ ही होता है।

तीसरी जो जहदाजहत लक्षणा है उसका ही महावाक्य में उपयोग होता है इस लक्षणा से महावाक्य का किया हुआ अर्थ ही ठीक और श्रुति संमत होता ह।

जहदाजहत लक्षणा में मुख्यार्थ का न तो संपूर्ण त्याग ही होता है और न संपूर्ण का ग्रहण ही होता है। कुछ अंश के त्याग से जहत और कुछ के त्याग न होने से अजहत; इस प्रकार उभय मिश्रित जहदाजहत है; उसे लोग भाग त्याग लक्षणा के नाम से भी कथन करते हैं। जैसे किसी ने कहा "वह यह देवदत्त है" इस वाक्य में वह यह और देवदत्त तीन पाद हैं; वह और यह का आपस में विरोध है इससे इन दोनों को छोड़कर देवदत्त

के ग्रहण को जहदाजहत लक्षणा कहते हैं। यह जहदाजहत लक्षणा का उपयोग महावाक्य "तत्त्वमसि" में होता है, क्योंकि महावाक्य तत् और त्वं दोनों में चैतन्य अंश समान है और उपाधि अंशों में विरोध है। विरोध अंशों का त्याग और समान अंश के ग्रहण से श्रुति का सिद्धान्त जो एकता-अद्वैत में था उसकी सिद्धि होती है।

शंका—इस प्रकार लक्षणा द्वारा महावाक्य की सिद्धि क्यों करते हो?

समाधान—लक्षणा वृत्ति द्वारा अर्थ न किया जाय तो व्यवहारिक मनुष्यों को विरोध मालूम देता है।

शंका—व्यवहारिक मनुष्यों को भले विरोध मालूम दे, ज्ञानी को तो नहीं।

समाधान—व्यवहारिक मनुष्य को ही उपदेश देकर तत्त्व का ग्रहण कराना है जब उसे विरोध मालूम देगा तब वह तत्त्व ग्रहण नहीं कर सकता और ज्ञानी को अद्वैत भाव में तो किसी का विरोध नहीं है परन्तु व्यवहारिक दशा में उसे भी विरोध ही मालूम देगा। अद्वैत तत्त्व लक्षालक्ष वर्जित है फिर भी योग्य अधिकारी को लक्ष द्वारा ही समझना पड़ता है। लक्ष सूक्ष्म बुद्धि का बहुत सूक्ष्म कार्य है इसके द्वारा ही लक्ष होता है। लक्ष के लिये लक्षणा वृत्ति की ही आवश्यकता है। लक्षालक्ष रहित अद्वैत तत्त्व में ही ज्ञानी की स्थिति होती है। अज्ञानियों को अज्ञान निवृत्त करने का उपदेश है, उसे अज्ञान में से ज्ञान की तरफ ले

जाता है; द्वैत में किया हुआ उपदेश अद्वैत में स्थिति कराने के योग्य हो जाता है। उपाधि के त्याग से चेतन का ग्रहण है। जिसे उपाधि की अप्रतीति है उसे सब परब्रह्म ही है भाग त्याग कुछ नहीं।

तत्त्वमस्यादि वाक्येषु
लक्षणा भागलक्षणा।
सोयमित्यादि वाक्यस्थ
पदयोरिव नापरा ॥४८॥

अर्थ—तत्त्वमस्यादि वाक्यों में भाग त्याग लक्षणा का ही उपयोग होता है जैसे वह यह पदों का त्याग करके देवदत्त का ही ग्रहण होता है, अन्य प्रकार से नहीं।

विवेचन।

जैसे "वह यह देवदत्त है" इस वाक्य में वह पद का मुख्य अर्थ 'वह देशकाल विशिष्ट' और यह पद का मुख्य अर्थ 'यह देशकाल विशिष्ट' इन दोनों की एकता असंभव होने से दोनों में से विशिष्टत्व का त्याग करके देवदत्त मात्र में ही वह और यह पद वर्तता है।

दृष्टान्त इस प्रकार है कि कोई एक काशी का राजा था वह धर्म कर्मनिष्ठ था उसकी ख्याति बहुत दूर दूर तक फैली हुई थी। जो कोई मनुष्य काशी की यात्रा करने को आता था पुण्यात्मा राजा का दर्शन भी अवश्य करता था। एक यात्री पुरुष ने हाथी

पर बैठे हुए काशी के राजा का दर्शन किया बाद वह अपने देश में लौट आया। कुछ दिनों के पश्चात् उसने सुना कि काशी के राजा ने राज्य का त्याग कर संन्यास लिया है एक दिन उसे वह मार्ग में मिल गया। उस समय राजा साधु के भेष में था लंगोटी लगाई हुई थी सब शरीर में भस्म रमाई हुई और हाथ में तूंबी थी। उसे देखकर उस मनुष्य ने कहा कि मैंने काशी विषे जिस राजा को देखा था "वह यह है" वह का स्थान काल और सामग्री भिन्न थी यह का देशकाल और सामग्री भिन्न है फिर भी दोनों की एकता मनुष्य में है। राजा भिक्षुक की एकता नहीं होती मनुष्य में एकता होती है।

इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य में भी तत् पद का और त्वं पद का मुख्य अर्थ ग्रहण करने में विरोध आता है, क्योंकि तत् पद का मुख्य अर्थ जो ईश्वर वह परोक्ष पूर्ण है और त्वं पद का अर्थ प्रत्यक् और परिच्छिन्न है। परोक्ष और पूर्ण की, प्रत्यक् और परिच्छिन्न की एकता नहीं बनती, इसलिये तत् पद का मुख्य अर्थ में से परोक्षत्व आदि और त्वं पद का मुख्य अर्थ में से परिच्छिन्नत्व आदि का त्याग करके दोनों पद पूर्ण आनंद अखंड बोध स्वरूप में प्रवर्तते हैं।

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थ-<br>
बोधो यावद्दृढी भवेत्।<br>
शमादि सहितस्ताव-<br>
दभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥४६॥

अर्थ—'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार वाक्यार्थ का दृढ़ (अपरोक्ष) बोध न हो तब तक शमादि सहित वारंवार श्रवणादिक का अभ्यास करे।

## विवेचन।

सद्गुरु द्वारा जब तत्त्वमसि महावाक्य का श्रवण किया गया तब अधिकारी पुरुष को अखंड चैतन्य की एकतासे चैतन्य स्वरूप जो ब्रह्म है 'वह मैं हूं' इस प्रकार का अपने में अपरोक्ष बोध होता है; जिस बोध के लिये तत्त्वमसि महावाक्य का श्रवण किया था वह बोध होगया और बोध होते ही संसार और संसार की संपूर्ण वासना नष्ट होगई। सब प्रकार से अज्ञान के सम्पूर्ण कष्ट निवृत्त होगये। अपना अभेद बोध ही वास्तविक बोध है। इस बोध में असंभावना और विपरीत भावना न होनी चाहिये, यदि असंभावना और विपरीत भावना सहित बोध है तो दृढ़ नहीं हुआ है। जीव ब्रह्म हो नहीं सकता ऐसा भाव और संसार भिन्नतासहित सत्य ही है असत्य निःसत्व हो नहीं सकता ऐसा भाव असंभावना है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध और सुख दुःखादि अनुभव का विषय सब जगत् सत्य ही है और अप्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रियादि का अविषय ब्रह्म मिथ्या है; ब्रह्म कोई वस्तु ही नहीं है ऐसे भाव को विपरीत भावना कहते हैं। इन दोनों दोषों से युक्त बोध नहीं है क्योंकि बोध का वास्तविक फल नहीं होता। कभी ऊपर दिखाई हुई असंभावना और विपरीत भावना विचार सहित नहीं होती परन्तु अदृढ़ता से दोनों दोषों

से युक्त बर्ताव करता है तब भी वह बोध दोषों से युक्त होने से अदृढ़ ही होता है।

दोनों दोषों से युक्त आत्म बोध परमपद रूप मोक्ष फल का दाता नहीं है इसलिये इन दोषों को निवारण करने के लिये बारंबार श्रवण करना चाहिये जिससे मनोनाश और वासना क्षय होकर बोध दृढ़ हो।

बारंबार श्रवण करने का भाव यह है कि अधिकारी के लक्षणों से युक्त श्रवण मनन और निदिध्यासन में लगा रहे। जब तक बोध दृढ़ न हो तब तक अभ्यास में लगा रहे। गुरु से सुनना अथवा पढ़ना श्रवण है; श्रवण में लौकिक गुरु और ज्ञान का समावेश नहीं है। गुरु ब्रह्मनिष्ठ हो और पढ़ने का विषय ब्रह्म विद्या-स्वस्वरूप के बोध सम्बन्धी हो। ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु से पढ़े सुने हुए को विचारना, हृदय में जमाने का यत्न करना मनन है। इस प्रकार जिसका मनन हुआ है उसे बर्ताव में लाना निदिध्यासन है। निदिध्यासन दृढ़ अभ्यास रूप है, निदिध्यासन से साक्षात्कार और निर्विकल्प समाधि होती है। इससे इन तीनों से असंभावना और विपरीत भावना का क्षय होता है। अदृढ़ बोध अन्तःकरण में अन्तःकरण से ग्रहण किया जाता है; जैसे लौकिक पदार्थों का ग्रहण अन्तःकरण में ही होता है और बोध करने वाला भी अन्तःकरण की उपाधि युक्त होता है इस प्रकार का आत्म बोध दृढ़ नहीं है। बोध तो इसे इसी कारण कहते हैं कि वह लौकिक भाव से बोध है। यह बोध नाम मात्र का है,

संपूर्ण फल का दाता नहीं है। जिसे दृढ़ अपरोक्ष बोध कहते हैं, जो बन्धन की निवृत्ति और परमपद का हेतु होता है वह स्वस्व-रूप में अन्तःकरण की वृत्ति से होता है क्योंकि अन्तःकरण युक्त जीव को अज्ञान है उसे ही ज्ञान करने की आवश्यकता है परंतु अन्तःकरण को भी शुद्ध करके अन्तःकरण के भाव को हटाकर किया जाता है तब यथार्थ बोध होता है ऐसा बोध ही जीव भाव को नष्ट कर परम बोध कराता है।

साधन चतुष्टय संपन्न ही को विद्वानों ने आत्म बोध का अधि-कारी कहा है इससे शम दमादि साधनों से युक्त पुरुष मुमुक्षु होकर गुरु शरण में जाकर अध्यात्म विद्या को श्रद्धायुक्त शुद्ध बुद्धि से ग्रहण करे और बारंबार श्रवणादिक में प्रवृत्त हो।

शंका—श्रवणादिक का अभ्यास कहां तक किया जाय ?

समाधान—जब तक बोध दृढ़ न हो, आत्म स्वरूप का हाथ में रखे हुए आमला के स्पष्ट बोध के समान बोध न हो तब तक अभ्यास किया करे; अभ्यास करते हुए मृत्यु हो जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं दृढ़ बोध हुए विना अभ्यास का त्याग न करे।

शंका—बोध होने के बाद दृढ़ होने के लिये अभ्यास क्यों करे समय पाकर अपने आप ही दृढ़ हो जायगा यदि इस जन्म दृढ़ न हुआ तो दूसरे जन्म में दृढ़ हो जायगा ?

समाधान—अदृढ़ बोध अभ्यास बिना कभी भी दृढ़ नहीं होता और असंभावना आदि दोषों से युक्त अदृढ़ बोध भी नष्ट

हो जायगा। जैसे भोजन के नाम से किसी की क्षुधा निवृत्ति नहीं होती ऐसे ही नाम मात्र के बोध से परमपद नहीं होता। वासना अनन्तकाल की है; अज्ञान वहुत दृढ़ है उसे नष्ट करने के लिये दृढ़ बोध की आवश्यकता है। शास्त्र में अपरोक्ष ज्ञान को दो प्रकार का कथन किया है दृढ़ और अदृढ़। दृढ़ अपरोक्ष बोध ही मोक्ष का हेतु है अदृढ़ नहीं, अदृढ़ बोध से कभी मोक्ष नहीं होता आत्म बोध अत्यंत सूक्ष्म है इसीसे शास्त्र में अभ्यास का कथन किया है। उद्दालक ने अपने पुत्र को तत्त्वमसि महावाक्य का नववार उपदेश किया है।

श्रुत्याचार्य प्रसादेन
दृढ़ बोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेष संसार-
निदानः पुरुषस्तदा ॥५०॥

अर्थ—आचार्य की कृपा द्वारा जब श्रुति के अनुसार दृढ़ बोध होता है तब पुरुष संसार के कारण अविद्या से रहित होता है।

## विवेचन।

दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान से होने वाले फल का अब कथन करते हैं कि श्री सद्गुरु के प्रणाम, सेवा, सुश्रूषा और अपनी योग्यता आदि से प्राप्त की हुई कृपा से जब गुरु प्रसन्न होकर उपदेश देते हैं और इससे दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है तब जो

संसार का कारण अविद्या है उसका नाश होता है इससे देह इन्द्रियां स्थिर होती हैं और देहाभिमान निवृत्त होता है इस प्रकार उसके सब संसार की निवृत्ति होती है।

अज्ञान से मन और मन से संसार है, जब आत्मा का दृढ़ अपरोक्ष बोध होता है तब अज्ञान और उसके सब कार्य की मृत्यु होजाती है यानी वे निर्जीव होजाते हैं। जो "सत्य है" ऐसे भाव से बलिष्ट रहते थे वे असत्य निःसत्व तुच्छ होजाते हैं। जगत् की सत्यता से जो वासनायें दृढ़ स्थान करके टिक रहीं थीं वे सब जल कर खाक होजाती हैं, इस प्रकार संसार और संसार की अदृष्ट जड़ भी कट जाती है जिसको स्वस्वरूप का बोध हुआ है ऐसे मनुष्यों के लिये संसार अपने संपूर्ण कार्यों सहित अस्त होजाता है। संसार नष्ट हो जानेसे सब प्रकार के संसार के दुःख निवृत्त होजाते हैं, जीव भाव और जीव के कष्ट नहीं रहते यह ही परमपद है, शरीर में ही अशरीरी का अनुभव होता है, जगत में रहते हुए भी जगत् के आद्य अविकार तत्त्व का अखंड अनुभव होता है।

विशीर्ण कार्य करणो
भूत सूक्ष्मैरनावृत्तः।
विमुक्त कर्मनिगडः
सद्य एव विमुच्यते ॥५१॥

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म भूतों से आच्छादित कार्य और करण का नाश करके कर्म शृंखला से मुक्त होकर तुरन्त ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

## विवेचन।

ज्ञान से ज्ञानी पुरुषका स्थूल और सूक्ष्म शरीर शुद्ध होजाता है यानी शरीर के अज्ञान का नाश होजाता है। स्थूल शरीर जो जगत् के व्यवहारका हेतु है उसमें से अहंता ममता निवृत्त होती है पंच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध और उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियों से सूक्ष्म शरीर विकार को प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार कार्य और कारण रूप जो स्थूल सूक्ष्म अज्ञान है उनको ज्ञान काटता है और दृढ़ अभ्यास के कारण, कारण शरीर जो अस्पष्ट व्यक्ति अज्ञान स्वरूप है उसे भी काटता है इस से उसमें कारण भाव से रहे हुए अनादिकाल के वासना संस्कार भी कट जाता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्म नहीं रहते, कर्म की संपूर्ण बेडी कट जाती है और सब प्रकार के बन्धनों से रहित होकर तुरन्त ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

प्रारब्धकर्म वेगेन
जीवन्मुक्तो यदा भवेत्।
किंचित्कालमनारब्ध
कर्मबंधस्य संक्षये ॥५२॥

अर्थ—यदि प्रारब्ध कर्म अवशेष रहा हो तो जीवन्मुक्त होकर प्रारब्ध कर्म का क्षय करने के लिये किंचित् काल रहता है।

## विवेचन।

शंका—ज्ञान होने के पश्चात् तुरन्त ही ज्ञानी को मुक्त होता देखते नहीं है, ज्ञानी का भी शरीर होता है और हमारे समान चेष्टा करता है। फिर ऐसा क्यों कहते हो कि तुरन्त परमपद को प्राप्त होता है।

समाधान—ज्ञान होने से तुरन्त मुक्त ही होता है, ज्ञान के पश्चात् मुक्त होने में विलंब नहीं होता, दो प्रकार की मुक्ति को समझना चाहिये। कुछ प्रारब्ध शेष रहते हुए मुक्ति और प्रारब्ध के क्षय के पश्चात् मुक्ति। जब प्रारब्ध कर्म के कुछ वेग की समाप्ति नहीं हुई है और ज्ञान होगया है तब वह जीवन्मुक्त होता है यह मुक्ति आन्तर है इससे शरीर से चेष्टा करता हुआ भी मुक्त होता है अब अज्ञान से उसकी कोई भी चेष्टा नहीं होती विशेष अहंभाव रहित प्रारब्ध समाप्ति की चेष्टा होती है और प्रारब्ध के वेग की समाप्ति से विदेह मुक्ति होती है।

कर्म तीन प्रकार का है—संचित, प्रारब्ध और आगामी। ज्ञान की प्रकट हुई अग्नि संचित कर्म को जला देती है और ज्ञानी के लिये ज्ञान होने के कारण आगामी कर्म ही नहीं होता। आगामी

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म भूतों से आच्छादित कार्य और करण का नाश करके कर्म शृंखला से मुक्त होकर तुरन्त ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

## विवेचन ।

ज्ञान से ज्ञानी पुरुषका स्थूल और सूक्ष्म शरीर शुद्ध होजाता है यानी शरीर के अज्ञान का नाश होजाता है। स्थूल शरीर जो जगत् के व्यवहारका हेतु है उसमें से अहंता ममता निवृत्त होती है पंच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध और उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियों से सूक्ष्म शरीर विकार को प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार कार्य और कारण रूप जो स्थूल सूक्ष्म अज्ञान है उनको ज्ञान काटता है और दृढ़ अभ्यास के कारण, कारण शरीर जो अस्पष्ट व्यक्ति अज्ञान स्वरूप है उसे भी काटता है इस से उसमें कारण भाव से रहे हुए अनादिकाल के वासना संस्कार भी कट जाता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्म नहीं रहते, कर्म की संपूर्ण बेडी कट जाती हैं और सब प्रकार के बन्धनों से रहित होकर तुरन्त ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

प्रारब्धकर्म वेगेन
जीवन्मुक्तो यदा भवेत्।
किंचित्कालमनारब्ध
कर्मबंधस्य संक्षये ॥५२॥

अर्थ—यदि प्रारब्ध कर्म अवशेष रहा हो तो जीवन्मुक्त होकर प्रारब्ध कर्म का क्षय करने के लिये किंचित् काल रहता है।

## विवेचन।

शंका—ज्ञान होने के पश्चात् तुरन्त ही ज्ञानी को मुक्त होता देखते नहीं हैं, ज्ञानी का भी शरीर होता है और हमारे समान चेष्टा करता है। फिर ऐसा क्यों कहते हो कि तुरन्त परमपद को प्राप्त होता है।

समाधान—ज्ञान होने से तुरन्त मुक्त ही होता है, ज्ञान के पश्चात् मुक्त होने में विलंब नहीं होता, दो प्रकार की मुक्ति को समझना चाहिये। कुछ प्रारब्ध शेष रहते हुए मुक्ति और प्रारब्ध के क्षय के पश्चात् मुक्ति। जब प्रारब्ध कर्म के कुछ वेग की समाप्ति नहीं हुई है और ज्ञान होगया है तब वह जीवन्मुक्त होता है यह मुक्ति आन्तर है इससे शरीर से चेष्टा करता हुआ भी मुक्त होता है अब अज्ञान से उसकी कोई भी चेष्टा नहीं होती विशेष अहंभाव रहित प्रारब्ध समाप्ति की चेष्टा होती है और प्रारब्ध के वेग की समाप्ति से विदेह मुक्ति होती है।

कर्म तीन प्रकार का है—संचित, प्रारब्ध और आगामी। ज्ञान की प्रकट हुई अग्नि संचित कर्म को जला देती है और ज्ञानी के लिये ज्ञान होने के कारण आगामी कर्म ही नहीं होता। आगामी

कर्म अज्ञान से होता है, वह अज्ञान न होने से लोक में दीखता हुआ उसका कर्म सम्बन्ध रहित होने से नहीं है और प्रारब्ध भी भोग से नष्ट होजाता है इस प्रकार ज्ञानी का कोई भी कर्म अव-शेष नहीं रहता।

शंका--जब प्रारब्ध कर्म शेष है तब ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? कर्म ज्ञान होने में परदा रूप है, परदा रहते हुए ज्ञान नहीं होता।

समाधान—जैसे सब लोगों का प्रारब्ध कर्म तीव्र होता है ऐसा ही कर्म मुमुक्षु का भी हो तो ज्ञान का होना संभव नहीं है। परन्तु जब बहुत क्षीणता को प्राप्त थोड़े प्रारब्ध कर्म होते हैं और अन्तःकरण की शुद्धि अधिक होती है तो प्रयत्न से ज्ञान हो सकता है। ज्ञानी को तो ज्ञान के पश्चात् प्रारब्ध कर्म भी शेष नहीं रहता है वह ज्ञान होने के समय में ही दग्ध हो गया है अब देखने में आने वाला ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म नाम मात्र का ही है, छायारूप है। छायारूप कर्मों का भोग ज्ञान के पश्चात् भी हो सकता है, ज्ञानी उसे भोगता है तब भी भोक्ता के भाव से रहित होता है क्योंकि अज्ञान में ही भोक्ता बनता था अब अज्ञान है नहीं।

प्रारब्ध कर्मों की अधिकता और तीव्रता हो तब ज्ञान होना संभव नहीं है, परन्तु अधिकारी पुरुषों को तो कई जन्मों का प्रारब्ध होते हुए भी ज्ञान बना रहता है, वे सब जीवन्मुक्त होते हैं वे भी सब भाव से विदेहमुक्त ही होते हैं। अज्ञान से युक्त

कर्म का ज्ञान से विरोध है जिसमें से अज्ञान निवृत्त हो गया है अथवा मलिनता क्षीण हुई है, ऐसे कर्म, ज्ञान के विरोधी नहीं होते।

शंका—ज्ञानी पुरुष भी अज्ञानी के समान सब व्यवहार करता है और भोग भोगता है तब वह ज्ञानी किस प्रकार है? ज्ञानी और अज्ञानी में भेद क्या है?

समाधान—अज्ञानी का व्यवहार अज्ञान सहित है जो सुख दुःख जन्म मरण आदि का हेतु है और ज्ञानी का व्यवहार ज्ञान सहित होने से प्रारब्ध की समाप्ति का हेतु है; जन्म बन्धन का हेतु नहीं है। अज्ञान आंतर में था वह निवृत्त हुआ और ज्ञान हुआ यह अन्तर है। अज्ञानी को जगत् में अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और ज्ञानी के जगत् के संपूर्ण व्यवहार में आनंद विहार है सब प्रकार आनंद है। अज्ञानी का अहंकार जीता है और ज्ञानी का जीव भाव का अहंकार मृत्यु को प्राप्त हुआ है, अज्ञानी संसार में हैं, मरते हैं तब भी संसार में रहते हैं और ज्ञानी संसार में रहते हुए भी संसार से बाहर है, जीते हुए भी बाहर है और मर कर भी बाहर है। शरीर सहित भी स्वस्वरूप में है और शरीर रहित भी स्वस्वरूप में है।

केवल व्यवहार से ही अज्ञानी मनुष्य ज्ञानी पुरुष को यह ज्ञानी है इस प्रकार जानने में असमर्थ है; ज्ञान अपना होने से दूसरों को जानने का विषय नहीं है। श्रद्धा से और योग्य पुरुष के कथन से वह पुरुष आत्मज्ञानी है इस प्रकार जान सकता है; ज्ञानी पुरुष अज्ञानी के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है।

ज्ञानी के शेष शरीर के प्रारब्ध तीन प्रकार के होते हैं। १ इच्छा पूर्वक २ अनिच्छा पूर्वक ३ परेच्छा पूर्वक। अपनी इच्छा से जो कर्म भोग हो वह इच्छा पूर्वक प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। ज्ञानी की इच्छा कथन मात्र की ही इच्छा होती है क्योंकि अब की नहीं है, पूर्वकाल के अज्ञान के वेग की है। वर्तमान काल में अज्ञान न होने से अज्ञान सहित नहीं है उससे ज्ञानी की आसक्ति और कार्य भोग में अधिक प्रयत्न नहीं होता। इसी प्रकार अनिच्छा प्रारब्ध में इच्छा न होते हुए कर्म भोग होता है। इच्छा का न होना भी ऊपर से है, भीतर की तीव्रता से नहीं होता।

शंका--अनिच्छा पूर्वक प्रारब्ध की प्रवृत्ति किसी की भी हो नहीं सकती। इच्छा सूक्ष्म है उसके पश्चात् ही स्थूल कार्य होता है जब इच्छा रहित सूक्ष्म ही नहीं है तब स्थूल भोग कार्य कैसे हो।

समाधान—अपनी इच्छाके विना कार्य नहीं होता यह नियम नहीं है। इच्छा न होते हुए भी किसी के दबाव वश कार्य करना पड़ता है, प्रथम सूक्ष्म में प्रेरणा होती है पश्चात् स्थूल में कार्य होता है। अपनी इच्छा से कार्य होता है तब प्रेरणा इच्छा रूप होती है और इच्छा के अभाव में प्रेरणा कार्य करने का विचार रूप होती है इस प्रकार का अनुभव प्रसंगानुसार सबको होता है इससे अनुभव सिद्ध अनिच्छा प्रारब्ध में विवाद नहीं हो सकता।

दूसरेकी इच्छासे कर्म भोगका होना परेच्छा प्रारब्ध है मनुष्य, पशु, देशकाल आदि को ही दूसरा कहते हैं। प्रसंगके अनुसार वे सब दूसरे हैं वे जोर देते हैं और कर्म भोग होता है क्योंकि ज्ञान के पश्चात् ज्ञानी का विशेषता वाला भाव क्षीण हुआ है; इसीसे प्रसंगानुसार अन्य ही निमित्त होकर कार्य हो जाते हैं। ज्ञानी राग द्वेष से रहित सम होता है इससे पूर्व संयोग से दूसरे की इच्छा से कर्म भोग होते रहते हैं।

इस प्रकार अलिप्त भोग भोगते हुए जीवन्मुक्त पुरुष विलक्षण आनन्द का भोक्ता होता है। उसको हाथ में परमपद और संसार दोनों ही होते हैं इसीसे वह दोनों के यथेष्ट आनन्द को लूटता है। दोनों प्रकार के आनन्द में भी उसकी विलक्षणता है, वह विदेह कैवल्य में जब आनन्द स्वरूप होता है तब जीवन्मुक्ति में आनन्द स्वरूप का शुद्ध भोक्ता होता है यह जीवन्मुक्ति की विदेह कैवल्य से विलक्षणता है। संसार के आनन्द को संसारी मनुष्य अज्ञान से युक्त भोगते हैं तब जीवन्मुक्त पुरुष विषयादिक के सहारे भी परमानन्द का ही भोग करता है। अज्ञानी के इन्द्रियों के संयोग से होने वाले भोग—आनन्द परिमित विकार और दुःख के हेतु हैं तब जीवन्मुक्त द्वारा भोगे गये जो विषयादिक आनन्द अपरिमित विकार रहित ब्रह्मानन्द रूप होने से नाश रहित अखंड और दुःख रहित ही होते हैं जीवन्मुक्त पुरुष को संसार के प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक विषय में, उच्चता में, कनिष्ठता में और लौकिक दुःखों में परमानंद ही होता है, शरीर सहित अशरीरिक आनंद को भोगता है।

शंका—जीवन्मुक्त पुरुष अशरीरी कैसे है ?

समाधान—देह होते हुए भी देह का अभिमान न होने से अशरीरी है। अज्ञान की कल्पना में शरीर है जब अज्ञान ही न रहा तब शरीर कहां ? इस प्रकार ज्ञानी के निश्चय में अज्ञानी के समान शरीर ही नहीं है। इसीसे उसे किसी भी देश काल वस्तु अवस्था के भेद में भी भेद रहित आनन्द ही होता है अनेकमें एकता का अनुभव करता है; उसका पृथिवी पर रहना अब अपने लिये नहीं है। ऐसे ही उसे दूसरों के लिये भी कुछ कर्तव्य बाकी नहीं है। उसका जगत् में धर्मज्ञ जिज्ञासुओं के लिये ही शेष जीवन है, योग्य अधिकारी पुरुष ऐसे महात्माओं से परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अपना हित कर सकते हैं।

पूर्व अज्ञान कृत शरीर के प्रारब्ध का वेग समाप्त होते ही शरीर भान रहित परम तत्त्व में एकता-निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। अन्य के देखने में आने वाला शरीर भी जब नहीं रहता तब उसीका नाम पूर्ण विदेह कैवल्य है।

निरस्तातिशयानंदं<br>
वैष्णवं परमं पदम् ।<br>
पुनरावृत्ति रहितं<br>
कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥५३॥

अर्थ—निरतिशय आनंद स्वरूप पुनरावृत्ति रहित अखंड परमात्मा स्वरूप को प्राप्त होता है यानी कैवल्य विदेह मुक्त होता है।

## विवेचन ।

कभी भी क्षीण न हो नष्ट न हो उसे निरस्त कहते हैं सूर्य उदय हो होकर प्रतिदिन अस्त होता है इस प्रकार जो कभी भी अस्त नहीं होता उदित ही रहता है ऐसा अतिशय यानी जो किसी प्रकार से भी वह इतना है ऐसा कहा न जाय, ऐसा आनंद होता है। जिसको वैसा आनंद प्राप्त हुआ वह आनंद का ग्रहण करने वाला न रहकर आनंद स्वरूप ही होता है। उस स्थिति को जिसे शास्त्रकार विष्णु का परम पद कहते हैं उसकी प्राप्ति होती है। पद स्थान को कहते हैं। स्वर्गादि कई स्थान हैं जो इस लोक से श्रेष्ठ समझे जाते हैं परन्तु वे परम न होने से दुःख रहित नहीं हैं। दुःख से रहित जो आनंद का समुद्र है वह परमपद है। यह स्थान ही ऐसा है कि जहां से कभी भी जन्म लेने के लिये हटना नहीं पड़ता, जो स्थान जन्म मरण दुःख और विकार से रहित शुद्ध ही शुद्ध है जो कैवल्य तत्त्व ही है उसकी प्राप्ति होती है वह स्वयम् परमपद स्वरूप होता है।

अपेक्षा रखने वाली कई युक्तियां और आपेक्षिक मोक्ष का शास्त्र में कथन किया गया है उन सब से श्रेष्ठ स्वस्वरूप की स्थिति रूप यह है। अपेक्षा रहित अखंडित है यह कैवल्य पद ही अन्तिम सुख स्वरूप श्रेय है।

# वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

महा वाक्य—वेदके सब मन्त्र, वाक्य और अध्याय आस्तिक मनुष्यों के आचरण करनेयोग्य ही हैं परन्तु इन सब में भी उपनिषदों का महावाक्यअपनी विशेषता ही रखता है। तत्त्वबोधको प्रत्यक्ष कराने के लिये महावाक्यों को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है। ये शब्दरूप होते हुए भी शब्दातीत तत्त्व को अपने अभेद रूप से प्रत्यक्ष बोध कराने वाले हैं। ये अत्यन्त गूढ होते हुए भी इनकी इस पुस्तक में दृष्टान्त सहित सरल व्याख्या की गई है, जो अत्यन्त रोचक और हृदयस्पर्शी है जिससे सामान्य भाषा जानने वाले मुमुक्षु भी तत्त्व ग्रहण कर के कृतार्थ हो सकते हैं।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। मूल्य रु० १)

उपनिषत् [५१]—इसमें भिन्न २ प्रकार की उपासना, ज्ञानके अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। जो कार्य प्राचीन दस उपनिषत् से विलंब से होता है वही इससे बहुत सुलभता से होता है। ये उपनिषत् संस्कृत भाषामें होनेसे हिन्दी जाननेवाले इनसे लाभ नहीं ले सकते, इसीसे वेदान्त केसरी में इनका सरल अनुवाद

करके छापा जाता है। यह उसका ही संग्रह है। पुस्तकाकार छापने के पूर्व इसका अत्यन्त परिश्रम के साथ संशोधन भी किया गया है। मूल के साथ मिलाने के लिये सुभीता रहे इस हेतु से यथास्थान श्लोकांक भी दिये गये हैं।

सुन्दर छपाई के ५५० के करीब पृष्ठ की कपड़े की जिल्द का मूल्य केवल रु० २॥)

ब्रह्म सूत्र—शांकर भाष्य भाषानुवाद भाग १ (पूर्वार्ध)—उपनिषदों में आत्मज्ञान सम्बंधी अनेक ऐसे कथन आये हैं जो ऊपर ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। उनकी एक वाक्यता करके वैदिक तत्त्वज्ञान को विशुद्ध रूप से प्रकट करने के लिये भगवान व्यास ने समन्वय रूप ये सूत्र लिखे हैं। इसके सम्पूर्ण उपलब्ध भाष्यों में शांकर भाष्य सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है, परन्तु अब तक हिन्दी में इसका शब्दशः अनुवाद नहीं हुआ है। इसी कमी को पूरा करने के लिये आधुनिक तथा प्रचलित भाषा में इसका अनुवाद किया गया है। आशा है हिन्दी भाषा भाषी इससे पूरा लाभ उठावेंगे। मूल्य रु० ३)

पंचकोश विवेक—पंचकोश के परदे से ढपा हुआ आत्मा का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसीसे उनको विस्तार सहित समझा कर आत्मा को दर्शा दिया है। पंचकोश का विवेक ही आत्म अनात्म विवेक है। मूल्य १)

सदाचार—श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटे पुस्तकों में इसी का भी एक नाम है; इससे मुमुक्षुओं को सत्य आचार का स्पष्ट बोध होता है। मूल्य ।।)

काया पलट नाटक—राजा, रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मनका जगत् आसक्ति में फंसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा अज्ञान टूट कर ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।)

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—११ वां साल चालू है। वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मईमास से व्रर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पांच आना। पिछले दस साल की जिल्द ( प्रत्येक बारह अङ्कों की ) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेप रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त का विवेचन है। प्रत्येक का मूल्य ३)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ।।)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। दृष्टांतों से रोचक है। सप्त श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १–२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है वैसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता। रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। मूल्य १)

वेदान्त दीपिका—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्त्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नई शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्ति पूर्वक समझा कर उसको दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १।)

मणि रत्न माला—अथवा प्रश्नोत्तरी, यह ग्रंथ शंकराचार्य कृत है भाषा पद्य और विवेचन है सबके लिये ही हितकर है। मुमुक्षुओं को अत्यन्त उपयोगी हो। इस प्रकार दृष्टांत सहित विवेचन लिखा गया है इसके विचार से अन्तःकरण शुद्ध होकर जल्दी ज्ञान प्राप्त होगा। पृष्ठ संख्या ५०६ सुन्दर कपड़े की जिल्द मूल्य केवल २)

वेदान्त रहस्य—वेदान्त द्वारा अपने आत्मा के बोध के निमित्त अनेक प्रक्रियाओं में जो गुप्त रहस्य है उसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है जिसे जानने से ही सब जानने का अन्त होता है ऐसे विस्तार सहित समझाया है। मूल्य ।।=)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है। कई संन्यासियों ने भी बहुत पसंद किया है। मूल्य ।।)

सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा। प्रचारार्थ बांटने के लिये तथा अधिक पुस्तकें खरीदने वाले बुकसेलर आदि को कार्यालय से लिखापढ़ी करना चाहिये।

व्यवस्थापक—

वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।